अश्वघोष-कृत

सौन्दरनन्द काव्य

सानुवाद

"यदि तुम आनन्द चाहते हो तो अपने मनको अध्यात्ममें लगाओ; शान्त एवं निर्दोष अध्यात्म-आनन्दके समान दूसरा कोई आनन्द नहीं है। उस (अध्यात्म-रति) में तुम्हें संगीत स्त्रियों या आभूषणोंका काम नहीं होगा; जहाँ-कहीं भी रह कर अकेले ही तुम उस (अध्यात्म-) आनन्दमें रमोगे।"

—११।३४-३५।

सम्पादक और अनुवादक

सूर्यनारायण चौधरी, एम० ए०

संस्करण] अगस्त १९४८ ई० [मूल्य ३)

प्रकाशक—

संस्कृत-भवन, कठौतिया

पो० काझा, जिला पूर्णियाँ (बिहार)

प्रथम संस्करण १०००

अगस्त १९४८ ई०

श्रावण २००५ वि० सं०
२४९२ बु० सं०

मूल्य ३)

मुद्रक—

दि युनाइटेड प्रेस लिमिटेड

भागलपुर

नीवारफलसंतुष्टैः स्वस्थैः शान्तैरनुत्सुकैः ।
आकीर्णोऽपि तपोभृद्भिः शून्यशून्य इवाभवत् ॥१०॥

जंगली चावल और फलों से सन्तुष्ट, स्वस्थ, शान्त एवं निरभिलाष तपस्वियों से भरा होने पर भी वह (आश्रम) सूना-सा था ॥१०॥

अग्नीनां हूयमानानां शिखिनां कूजतामपि ।
तीर्थानां चाभिषेकेषु शुश्रुवे यत्र निस्वनः ॥११॥

केवल अग्नि में हवन करने का, मोरों के बोलने का और तीर्थों में स्नान करने का शब्द वहाँ सुनाई पड़ता था ॥११॥

विरेजुर्हरिणा यत्र सुप्ता मेध्यासु वेदिषु ।
सलाजैर्माधवीपुष्पैरुपहाराः कृता इव ॥१२॥

वहाँ पवित्र वेदियों पर सोये हुए हरिण ऐसे शोभित हुए जैसे लावे और माधवी फूलों के साथ वे (हरिण) उपहार चढ़ाये गये हों ॥१२॥

अपि क्षुद्रमृगा यत्र शान्ताश्चेरुः समं मृगैः ।
शरण्येभ्यस्तपस्विभ्यो विनयं शिक्षिता इव ॥१३॥

वहाँ हिंस्र पशु मृगों के साथ शान्तिपूर्वक विचरण करते थे, मानो उन्होंने शरण देनेवाले तपस्वियों से विनय की शिक्षा पाई हो ॥१३॥

संदिग्धेऽप्यपुनर्भावे विरुद्धेष्वागमेष्वपि ।
प्रत्यक्षिण इवाकुर्वंस्तपो यत्र तपोधनाः ॥१४॥

यद्यपि उनकी मोक्ष-प्राप्ति संदिग्ध थी और शास्त्र परस्पर-विरोधी थे, तो भी उन तपस्वियों ने वहाँ तप किया, जैसे उन्हें अपने तप के फल का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ हो ॥१४॥

यत्र स्म मीयते ब्रह्म कैश्चित्कैश्चिन्न मीयते ।
काले निमीयते सोमो न चाकाले प्रमीयते ॥१५॥

वहाँ कुछ लोगों ने ब्रह्म-चिन्तन किया, किसीने हिंसा न की, समय पर सोम-रस मापा गया और किसी की भी अकाल-मृत्यु न हुई ॥१५॥

निरपेक्षाः शरीरेषु धर्मे यत्र स्वबुद्धयः ।
संहृष्टा इव यत्नेन तापसास्तेपिरे तपः ॥१६॥

वहाँ धर्म के विषय में अपने ही मत का अनुसरण करते हुए उन्होंने शरीर की पर्वाह न की; अपने प्रयत्न से मानो अत्यन्त प्रसन्न होकर उन तापसों ने तपस्या की ॥१६॥

श्राम्यन्तो मुनयो यत्र स्वर्गायोद्युक्तचेतसः ।
तपोरागेण धर्मस्य विलोपमिव चक्रिरे ॥१७॥

वहाँ स्वर्ग की प्राप्ति में चित्त लगाकर मुनियों ने श्रम किया; तपस्या की आसक्ति से उन्होंने मानो धर्म का लोप किया ॥१७॥

अथ तेजस्विसदनं तपःक्षेत्रं तमाश्रमं ।
केचिदिक्ष्वाकवो जग्मू राजपुत्रा विवत्सवः ॥१८॥

तब तेजस्वियों के निवास-स्थान और तपस्या के क्षेत्र उस आश्रम कुछ इक्ष्वाकु-वंशी राजकुमार रहने की इच्छा से गये ॥१८॥

सुवर्णस्तम्भवर्ष्माणः सिंहोरस्का महाभुजाः ।
पात्रं शब्दस्य महतः श्रियां च विनयस्य च ॥१९॥

उनके शरीर सुवर्ण-स्तम्भ के समान (लम्बे) थे, उनकी छाती सिंह की सी (चौड़ी) थी, भुजाएँ बड़ी बड़ी थीं । वे महान् ख्याति श्री और विनय के पात्र थे ॥१९॥

अर्हरूपा ह्यनर्हस्य महात्मानश्चलात्मनः ।
प्राज्ञाः प्रज्ञाविमुक्तस्य भ्रातृव्यस्य यवीयसः ॥२०॥

वे योग्य थे और उनका छोटा भाई अयोग्य, वे महात्मा थे और वह अस्थिरात्मा, वे पण्डित थे और वह मूर्ख ॥२०॥

मातृशुल्कादुपगतां ते श्रियं विषेहिरे ।
ररक्षुश्च पितुः सत्यं यस्माच्छिश्रियिरे वनं ॥२१॥

उसकी माता के शुल्क में प्राप्त राज्य को उन्होंने बलात् ग्रहण नहीं किया; उन्होंने पिता के सत्य की रक्षा की और इसीलिए वन का आश्रय लिया ॥२१॥

तेषां मुनिरुपाध्यायो गौतमः कपिलोऽभवत् ।
गुरुगोत्रादतः कौत्सास्ते भवन्ति स्म गौतमाः ॥२२॥

उनके उपाध्याय मुनि कपिल गौतम हुए; अतः वे कौत्स, गुरु के गोत्र से गौतम कहलाये ॥२२॥

एकपित्रोर्यथा भ्रात्रोः पृथग्गुरुपरिग्रहात् ।
राम एवाभवद्गार्ग्यो वासुभद्रोऽपि गौतमः ॥२३॥

जैसे अलग अलग गुरु के शिष्य होने से, एक ही पिता के पुत्र दो भाई, राम तो गार्ग्य हुआ और वासुभद्र गौतम ॥२३॥

शाकवृक्षप्रतिच्छन्नं वासं यस्माच्च चक्रिरे ।
तस्मादिक्ष्वाकुवंश्यास्ते भुवि शाक्या इति स्मृताः ॥२४॥

उन्होंने जिस स्थान पर निवास किया वह शाक-वृक्षों से ढका था, इसलिए वे इक्ष्वाकुवंशी पृथ्वी पर शाक्य कहलाये ॥२४॥

२०—'भ्रातृव्य' का अर्थ है भतीजा, किंतु यहाँ इस शब्द से सौतेले भाई का तात्पर्य है ।

स तेषां गौतमश्चक्रे स्ववंशसदृशीः क्रियाः ।
मुनिरूर्ध्वं कुमारस्य सगरस्येव भार्गवः ॥२५॥

उन गौतम मुनिने अपने वंश के अनुरूप उनके संस्कार किये, जैसे बाद को भार्गव मुनि ने कुमार सगर के, ॥२५॥

कण्वः शाकुन्तलस्येव भरतस्य तरस्विनः ।
वाल्मीकिरिव धीमांश्च धीमतोर्मैथिलेययोः ॥२६॥

कण्व ने शकुन्तला के वीर पुत्र भरत के तथा धीमान् (मेधावी) बाल्मीकि ने मैथिली के धीमान् पुत्रों के संस्कार किये ॥२६॥

तद्वनं मुनिना तेन तैश्च क्षत्रियपुंगवैः ।
शान्तां गुप्तां च युगपद्ब्रह्मक्षत्रश्रियं दधे ॥२७॥

उस वन ने उन मुनि तथा उन श्रेष्ठ क्षत्रियों के कारण एक ही साथ (क्रमशः) शान्तिमयी ब्राह्म श्री तथा रक्षामयी क्षात्र श्री धारण की ॥२७॥

अथोदकलशं गृह्य तेषां वृद्धिचिकीर्षया ।
मुनिः स वियदुत्पत्य तानुवाच नृपात्मजान् ॥२८॥

एक दिन उनकी समृद्धि करने की इच्छा से जल का घड़ा लेकर मुनि आकाश में उड़ गये और उन राज-पुत्रों से कहाः—॥२८॥

या पतेत्कलशादस्माद् क्षय्यसलिलान्महीं ।
धारा तामनतिक्रम्य मामन्वेत यथाक्रमं ॥२९॥

"अक्षय्य जल के इस कलश से जो जल-धारा पृथ्वी पर गिरे उसका अतिक्रमण न करके क्रम से मेरा अनुसरण करो ।" ॥२९॥

२६—'वेगिशूरौ तरस्विनौ'—अमर ।

२७—मुनियों और ब्राह्मणों की शोभा है शान्ति तथा क्षत्रियों की शोभा है रक्षा ।

तत: परमित्युक्त्वा शिरोभि: प्रणिपत्य च ।
रथानारुरुहु: सर्वे शीघ्रवाहानलंकृतान् ।।३०।।

तब "बहुत अच्छा" कहकर और शिर नवाकर प्रणाम कर वे सब अपने रथों पर आरूढ़ हुए जो अलंकृत थे और जिनमें शीघ्रगामी घोड़े जुते हुए थे ।।३०।।

तत: स तैरनुगत: स्यन्दनस्थैर्नभोगत: ।
तदाश्रममहीप्रान्तं परिचिक्षेप वारिणा ।।३१।।

तब रथों पर आरूढ़ उन लोगों से अनुसृत होकर आकाश में चलते हुए उन मुनिने उस आश्रम की भूमि के चारों ओर जल की धारा गिराई ।।३१।।

अष्टापदमिवालिख्य निमित्तै: सुरभीकृतं ।
तानुवाच मुनि: स्थित्वा भूमिपालसुतानिदं ।।३२।।

और सतरंज की तख्ती की तरह ढाँचा बनाया, जो सीमा के चिह्नों से सुन्दर किया गया । तब मुनि ने खड़ा होकर उन राज-पुत्रों से कहा :— ।।३२।।

अस्मिन्धारापरिक्षिप्ते नेमिचिह्नितलक्षणे ।
निर्मिमीध्वं पुरं यूयं मयि याते त्रिविष्टपं ।।३३।।

"जल की धारा से घिरी हुई तथा पहियों के चिह्न से चिह्नित इस भूमि पर, मेरे स्वर्गीय होने पर, तुम लोग एक नगर का निर्माण करो" ।।३३।।

तत: कदाचित्ते वीरास्तस्मिन्प्रतिगते मुनौ ।
बभ्रमुर्यौवनोद्दामा गजा इव निरङ्कुशा: ।।३४।।

तब कालक्रम से उन मुनि के स्वर्गीय होने पर वे वीर जवानी से

उच्छृङ्खल होकर निरंकुश हाथियों की तरह विचरण करने लगे ॥३४॥

बद्धगोधाङ्गुलीत्राणा हस्तविष्ठितकार्मुकाः ।
शराध्मातमहातूणा व्यायताबद्धवाससः ॥३५॥

चमड़े के अङ्गुलि-त्राण (दस्ताने) पहनकर, हाथों में धनुष धारण कर, तीरों से भरे बड़े बड़े तरकस लेकर और अपने लम्बे वस्त्रों को दृढ़तापूर्वक बाँधकर, ॥३५॥

जिज्ञासमाना नागेषु कौशलं श्वापदेषु च ।
अनुचक्रुर्वनस्थस्य दौष्मन्तेर्देवकर्मणः ॥३६॥

हाथियों और हिंस्र पशुओं पर अपने कौशल की परीक्षा करते हुए उन्होंने वनवासी दौष्यन्ति (दुष्यन्त-पुत्र) का, जिनके कर्म देवता के से थे, अनुकरण किया ॥३६॥

तान्दृष्ट्वा प्रकृतिं यातान्वृद्धान्व्याघ्रशिशूनिव ।
तापसास्तद्वनं हित्वा हिमवन्तं सिषेविरे ॥३७॥

बाघ के बच्चों की तरह जवान होकर वे अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ गये हैं, यह देखकर तापसगण उस वन को छोड़कर हिमालय पर चले गये ॥३७॥

ततस्तदाश्रमस्थानं शून्यं तैः शून्यचेतसः ।
पश्यन्तो मन्युना तप्ता व्याला इव निशश्वसुः ॥३८॥

तब उस आश्रम को उन तापसों से सूना देखकर वे उदास हो गये और क्रोध से जलते हुए साँपों की तरह लम्बी साँसें लेने लगे ॥३८॥

३५—पा० 'हस्ताधिष्ठित', 'हस्तविष्ठित' ।

अथ ते पुण्यकर्माण: प्रत्युपस्थितवृद्धय: ।
तत्र तज्ज्ञैरुपाख्यातानवापुर्महतो निधीन् ॥३९॥

तब उनके पुण्य-कर्मों (के प्रभाव) से उनकी समृद्धि उपस्थित हुई और उस विद्या के पण्डितों द्वारा बताये जाने पर उन्होंने बड़ी बड़ी निधियाँ पाईं ॥३९॥

अलं धर्मार्थकामानां निखिलानामवाप्तये ।
निधयो नैकविधयो भूरयस्ते गतारय: ॥४०॥

वे निधियाँ अनेक प्रकार की, प्रचुर, शत्रुओं (के भय) से मुक्त तथा समस्त धर्म अर्थ व काम की प्राप्ति के लिए पर्याप्त थीं ॥४०॥

ततस्तत्प्रतिलम्भाच्च परिणामाच्च कर्मण: ।
तस्मिन्वास्तुनि वास्तुज्ञा: पुरं श्रीमन्न्यवेशयन् ॥४१॥

तब उन निधियों की प्राप्ति से तथा अपने (पुण्य) कर्मों का परिपाक होने से वास्तुविद्या के पण्डितों ने उस स्थान पर एक सुन्दर नगर बनवाया ॥४१॥

सरिद्विस्तीर्णपरिखं स्पष्टाञ्चितमहापथं ।
शैलकल्पमहावप्रं गिरिव्रजमिवापरं ॥४२॥

उस नगर की परिखा नदी की तरह चौड़ी थी, राज-पथ भव्य और सीधा था, प्राचीर पहाड़ों की तरह विशाल थे, जैसे वह दूसरा गिरिव्रज (=राजगृह) ही हो ॥४२॥

पाण्डुराट्टालसुमुखं सुविभक्तान्तरापणं ।
हर्म्यमालापरिक्षिप्तं कुक्षिं हिमगिरेरिव ॥४३॥

सफेद अट्टालिकाओं से उसका मुख (=सामने का हिस्सा) सुन्दर

४२—परिखा = नगर के चारों ओर खोदी जानेवाली खाई ।

लगता था, उसके भीतरी बाजार अच्छी तरह विभाजित थे, वह महलों की माला से घिरा हुआ था, जान पड़ता था जैसे वह नगर हिमालय की कुक्षि हो ॥४३॥

वेदवेदाङ्गविदुषस्तस्थुषः षट्सु कर्मसु ।
शान्तये वृद्धये चैव यत्र विप्रानजीजपन् ॥४४॥

वेद-वेदाङ्गों के जाननेवाले तथा छः कर्मों में रत रहनेवाले ब्राह्मणों से उन्होंने अपनी शान्ति और वृद्धि के लिए वहाँ जप करवाया ॥४४॥

तद्भूमेरभियोक्तॄणां प्रयुक्तान्विनिवृत्तये ।
यत्र स्वेन प्रभावेन भृत्यदण्डानजीजपन् ॥४५॥

उस भूमि पर आक्रमण करनेवालों को हटाने के लिए जो सैनिक नियुक्त थे उनके द्वारा उन्होंने अपने प्रभाव से विजय प्राप्त करवाई ॥४५॥

चारित्रधनसंपन्नान् सलज्जान्दीर्घदर्शिनः ।
अर्हतोऽतिष्ठिपन्यत्र शूरान्दक्षान् कुटुम्बिनः ॥४६॥

सदाचार रूपी धन से सम्पन्न, लज्जावान्, दीर्घदर्शी, योग्य, शूर और दक्ष कुटुम्बियों को उन्होंने वहाँ बसाया ॥४६॥

व्यस्तैस्तैस्तैर्गुणैर्युक्तान्मतिवाग्विक्रमादिभिः ।
कर्मसु प्रतिरूपेषु सचिवांस्तान्न्ययूयुजन् ॥४७॥

बुद्धि वाणी और पराक्रम आदि भिन्न भिन्न गुणों से युक्त मंत्रियों को उनके अनुरूप कर्मों में उन्होंने नियुक्त किया ॥४७॥

४३—कुक्षि = उदर, गुफा, उपत्यका ।

वसुमद्भिरविभ्रान्तैरलंविद्यैरविस्मितैः ।
याद्बभसे नरैः कीर्णं मन्दरः किन्नरैरिव ॥४८॥

धनी शान्त विद्वान् और अनुद्धत मनुष्यों से भरा हुआ वह नगर वैसे ही शोभित हुआ जैसे किन्नरों से मन्दराचल ॥४८॥

यत्र ते हृष्टमनसः पौरप्रीतिचिकीर्षया ।
श्रीमन्त्युद्यानसंज्ञानि यशोधामान्यचीकरन् ॥४९॥

वहाँ पुर-वासियों को प्रसन्न करने की इच्छा से उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर उद्यान नामक यश के सुन्दर स्थान बनवाये ॥४९॥

शिवाः पुष्करिणीश्चैव परमाग्र्यगुणाम्भसः ।
नाज्ञया चेतनोत्कर्षाद्दिक्षु सर्वास्वचीखनन् ॥५०॥

किसी की आज्ञा से नहीं, बल्कि अपनी सद्बुद्धि से, उन्होंने सब दिशाओं में सुन्दर पोखर खनवाये, जो उत्तम गुण के जल से भरे हुए थे ॥५०॥

मनोज्ञाः श्रीमतीः प्रष्ठीः पथिषूपवनेषु च ।
सभाः कूपवतीश्चैव समन्तात्प्रत्यतिष्ठिपन् ॥५१॥

मार्गों और उपवनों में चारों ओर मनोरम सुन्दर और उत्तम धर्मशालाएँ बनवाईं, जिनके साथ कूप भी थे ॥५१॥

हस्त्यश्वरथसंकीर्णमसंकीर्णमनाकुलं ।
अनिगूढार्थिविभवं निगूढज्ञानपौरुषं ॥५२॥

हाथियों घोड़ों और रथों से भरा होने पर भी वह नगर अपवित्र या अस्तव्यस्त नहीं हुआ । वहाँ याचकों से किसी ने धन नहीं छिपाया, किंतु लोगों ने अपने ज्ञान और पौरुष को (अवश्य) छिपाया ॥५२॥

संनिधानमिवार्थानामाधानमिव तेजसां ।
निकेतमिव विद्यानां संकेतमिव संपदां ॥५३॥

वह नगर धन का निधान-सा, तेज का आधान-सा, विद्या का मन्दिर सा और सम्पत्ति का गुप्त स्थान-सा था ॥५३॥

वासवृक्षं गुणवतामाश्रयं शरणैषिणां ।
आनर्तं कृतशास्त्राणामालानं बाहुशालिनां ॥५४॥

वह गुणियों का निवास-वृक्ष, शरण चाहनेवालों का आश्रय, शास्त्र जाननेवालों का घर और बाहुशाली वीरों का स्तम्भ था ॥५४॥

समाजैरुत्सवैर्दायैः क्रियाविधिभिरेव च ।
अलंचक्रुरलंवीर्यास्ते जगद्धाम तत्पुरं ॥५५॥

उन वीरों ने सभाओं उत्सवों दानों और धार्मिक क्रियाओं से संसार के उस स्थान—उस नगर—को अलंकृत किया ॥५५॥

यस्मादन्यायतस्ते च कंचिन्नाचीकरन्करं ।
तस्मादल्पेन कालेन तत्तदापूपुरन्पुरं ॥५६॥

उन्होंने अन्यायपूर्वक कोई कर नहीं लगाया, इस लिए अल्पकाल में ही उन्होंने उस नगर को (धन-जन से) भर दिया ॥५६॥

५४—आनर्त=नाट्यशाला; शास्त्र से नाट्यशास्त्र का भी बोध हो सकता है। आलान=हाथी बाँधने का स्तम्भ। इस श्लोक के प्रत्येक पाद में श्लेष है।

५५—समाज=दल बाँधकर नृत्य के साथ देव-मन्दिर में सरस्वती आदि देवता की की जानेवाली पाक्षिक या मासिक पूजा—का० सू० १.४.२७। आजकल हरिकीर्तन करनेवाले दलों को समाज कहते हैं।

कपिलस्य च तस्यर्षेस्तस्मिन्नाश्रमवास्तुनि ।
यस्मात्त तत्पुरं चक्रुस्तस्मात्कपिलवास्तु तत् ॥५७॥

उन कपिल ऋषि के उस आश्रम-स्थान पर उन्होंने वह नगर बनाया, इसलिए वह कपिलवास्तु कहलाया ॥५७॥

ककन्दस्य मकन्दस्य कुशाम्बस्येव चाश्रमे ।
पुर्यो यथा हि श्रूयन्ते तथैव कपिलस्य तत् ॥५८॥

जैसे ककन्द मकन्द और कुशाम्ब के आश्रम में बनाये गये नगर उन (ऋषियों) के नाम से विख्यात हैं, वैसे ही कपिल नाम से वह नगर प्रसिद्ध हुआ ॥५८॥

आपुः पुरं तत्पुरुहूतकल्पास्ते तेजसार्थेण न विस्मयेन ।
आपुर्यशोगन्धमतश्च शश्वत्सुता ययातेरिव कीर्तिमन्तः ॥५९॥

इन्द्र-तुल्य उन वीरों ने अपने आर्य तेज से, न कि औद्धत्य से, उस नगर की रक्षा की, इसलिए उन्होंने शाश्वत यशरूपी सुगन्ध प्राप्त की, जैसे कि ययाति के विख्यात पुत्रों ने प्राप्त की थी ॥५९॥

तन्नाथवृत्तैरपि राजपुत्रैरराजकं नैव रराज राष्ट्रं ।
तारासहस्रैरपि दीप्यमानैरनुत्थिते चन्द्र इवान्तरीक्षं ॥६०॥

उन राज-पुत्रों से, यद्यपि उनके आचरण अधिपति (स्वामी) के से थे, वह राष्ट्र एक राजा के विना शोभित नहीं हुआ, जैसे हजारों ताराओं के चमकते रहने पर भी चन्द्रोदय के अभाव में आकाश की शोभा नहीं होती ॥६०॥

यो ज्यायानथ वयसा गुणैश्च तेषां भ्रातॄणां वृषभ इवौजसा वृषाणां ।
ते तत्र प्रियगुरवस्तमभ्यषिञ्चन्नादित्या दशशतलोचनं दिवीव ॥६१॥

उन भाइयों के बीच उम्र और गुणों में जो बड़ा था, जैसे बैलों में शक्तिशाली बैल बड़ा समझा जाता है, उसे उन्होंने, जिन्हें अपना बड़ा भाई प्यारा था, (राजा के पद पर) अभिषिक्त किया, जैसे स्वर्ग में आदित्यों ने इन्द्र का अभिषेक किया था ॥६१॥

आचारवान्विनयवान्नयवान्क्रियावान्
धर्माय नेन्द्रियसुखाय धृतातपत्रः ।
तद्भ्रातृभिः परिवृतः स जुगोप राष्ट्रं
संक्रन्दनो दिवमिवानुसृतो मरुद्भिः ॥६२॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये कपिलवास्तुवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ।

उस सदाचारी विनयी नीतिमान् और क्रियावान् ने, धर्म के लिए न कि इन्द्रिय-सुख के लिए, राज-छत्र धारण किया। उन भाइयों के साथ उसने राष्ट्र की वैसे ही रक्षा की जैसे मरुतों के साथ इन्द्र स्वर्ग की रक्षा करता है ॥६२॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य में 'कपिलवास्तु-वर्णन' नामक
प्रथम सर्ग समाप्त ।

द्वितीय सर्ग

राजा शुद्धोदन

ततः कदाचित्कालेन तदवाप कुलक्रमात् ।

राजा शुद्धोधनो नाम शुद्धकर्मा जितेन्द्रियः ॥१॥

तब एक बार समय बीतने पर वंश-परम्परा से शुद्धोदन नामक राजा, जिसके कर्म शुद्ध (पवित्र) थे और जिसने इन्द्रियों को जीत लिया था, उस राज्य का उत्तराधिकारी हुआ ॥१॥

यः ससञ्जे न कामेषु श्रीप्राप्तौ न विसिस्मिये ।

नावमेने परानृद्ध्या परेभ्यो नापि विव्यथे ॥२॥

वह विषयों में आसक्त नहीं हुआ, लक्ष्मी प्राप्त कर वह उद्धत नहीं हुआ, अपनी समृद्धि के कारण दूसरों का अपमान नहीं किया, और अपने शत्रुओं से व्यथित नहीं हुआ ॥२॥

बलीयान्सत्त्वसंपन्नः श्रुतवान् बुद्धिमानपि ।

विक्रान्तो नयवांश्चैव धीरः सुमुख एव च ॥३॥

वह बलवान्, सात्त्विक, विद्वान्, बुद्धिमान्, पराक्रमी, नीतिमान्, धीर और सुन्दर था ॥३॥

वपुष्मांश्च न च स्तब्धो दक्षिणो न च नार्जवः ।

तेजस्वी न च न क्षान्तः कर्ता च न च विस्मितः ॥ ४ ॥

वह था रूपवान् किंतु अभिमानी नहीं, अनुकूल किंतु कुटिल नहीं, तेजस्वी किंतु असहनशील नहीं, कार्य करनेवाला किंतु उद्धत नहीं ॥४॥

आक्षिप्तः शत्रुभिः संख्ये सुहृद्भिश्च व्यपाश्रितः।
अभवद्यो न विमुखस्तेजसा दित्सयैव च ॥ ५ ॥

युद्धमें शत्रुओं द्वारा ललकारा जाने पर वह तेज (पराक्रम) से विमुख नहीं हुआ और मित्रों द्वारा आश्रय लिया जाने पर उदारता से पराङ्मुख नहीं हुआ ॥५॥

यः पूर्वैं राजभिर्यातां यियासुर्धर्मपद्धतिं।
राज्यं दीक्षामिव वहन्वृत्तेनान्वगमत्पितॄन् ॥६॥

पूर्व के राजा लोग जिस धर्म-मार्ग पर चले थे उसी पर चलने की इच्छा से, राज्य को दीक्षा (व्रत) की तरह वहन करते हुए उसने अपने पूर्वजों के आचरण का अनुसरण किया ॥६॥

यस्य सुव्यवहाराच्च रक्षणाच्च सुखं प्रजाः।
शिश्यिरे विगतोद्वेगाः पितुरङ्कगता इव ॥७॥

उसके सुशासन और रक्षा-प्रबन्ध के कारण प्रजा निर्भय होकर सुख की नींद लेती थी, जैसे बच्चे अपने पिता की गोद में (सुख से सोते हैं) ॥७॥

कृतशास्त्रः कृतास्त्रो वा जातो वा विपुले कुले।
अकृतार्थो न ददृशे यस्य दर्शनमेयिवान् ॥८॥

जिसने शास्त्र का अध्ययन किया हो या जिसने अस्त्र का अभ्यास किया हो या जिसने ऊँचे कुल में जन्म लिया हो, ऐसा कोई आदमी उसका दर्शन पाकर अकृतार्थ (असफल-मनोरथ) नहीं हुआ ॥८॥

७—सुव्यवहार = सुन्दर व्यवहार, उत्तम विवाद-निर्णय (जिससे प्रजा को पीड़ा नहीं होती थी)।

हितं विप्रियमप्युक्तो यः शुश्राव न चुक्षुभे।
दुष्कृतं बह्वपि त्यक्त्वा सस्मार कृतमण्वपि ॥९॥

हितकारी वचन अप्रिय होने पर भी उसने ध्यानपूर्वक सुना और क्षुब्ध नहीं हुआ। अनेक अपकारों को भूलकर उसने अणुमात्र उपकार को भी याद रखा ॥९॥

प्रणतानजुजग्राह विजग्राह कुलद्विषः।
आपन्नान्परिजग्राह निजग्राहास्थितान्पथि ॥१०॥

उसने शरणागतों के उपर अनुग्रह किया, अपने वंश के शत्रुओं के साथ युद्ध किया, आपत्ति-ग्रस्तों को अपनाया और सन्मार्ग पर नहीं चलने वालों का निग्रह किया ॥१०॥

प्रायेण विषये यस्य तच्छीलमनुवर्तिनः।
अर्जयन्तो ददृशिरे धनानीव गुणानपि ॥११॥

उसके राज्य में प्रायः उसके शील का अनुकरण करनेवाले लोग धन की तरह सद्गुण अर्जन करते हुए दिखाई पड़े ॥११॥

अध्यैष्ट यः परं ब्रह्म न व्यैष्ट सततं धृतेः।
दानान्यदित पात्रेभ्यः पापं नाकृत किंचन ॥१२॥

उसने परम ब्रह्म (वेद) का अध्ययन किया, वह धैर्य से कभी विचलित नहीं हुआ, उसने सत्पात्रों को दान दिया, और थोड़ा सा भी पाप नहीं किया ॥१२॥

धृत्यावाक्षीत्प्रतिज्ञां स सद्वाजीवोद्यतां धुरं।
न ह्यवाञ्छीच्च्युतः सत्यान्मुहूर्तमपि जीवितं ॥१३॥

उसने धैर्यपूर्वक प्रतिज्ञा की रक्षा की, जैसे अच्छा घोड़ा जुए को

प्रसन्नतापूर्वक वहन करता है; क्योंकि सत्य से गिर कर क्षण भर के लिए भी जीवन धारण करना उसे अभीष्ट नहीं था ॥१३॥

विदुषः पर्युपासिष्ट व्यकाशिष्टात्मवत्तया ।
व्यरोचिष्ट च शिष्टेभ्यो मासीषे चन्द्रमा इव ॥१४॥

उसने विद्वानों की उपासना की, वह आत्म-संयम से प्रकाशित हुआ, वह शिष्ट जनों के लिए वैसे ही प्रिय था, जैसे आश्विन में चन्द्रमा ॥१४॥

अवेदीद्बुद्धिशास्त्राभ्यामिह चामुत्र च क्षमं ।
अरक्षीद्धैर्यवीर्याभ्यामिन्द्रियाण्यपि च प्रजाः ॥१५॥

उसने बुद्धिद्वारा इस लोक में अपने हित को प्राप्त किया और शास्त्र-द्वारा परलोक के योग्य (क्रिया और वस्तु) को जाना। उसने धैर्यद्वारा इन्द्रियों की रक्षा की और वीर्यद्वारा प्रजाओं की ॥१५॥

अहार्षीद्दुःखमार्तानां द्विषतां चोर्जितं यशः ।
अचैषीच्च नयैर्भूमिं भूयसा यशसैव च ॥१६॥

उसने दुःखियों का दुःख दूर किया और शत्रुओं का शक्तिशाली यश हरण किया। उसने नीति द्वारा पृथ्वी को जीता और अपने विशाल यश से इसे व्याप्त किया ॥१६॥

अप्यासीद्दुःखितान्पश्यन्प्रकृत्या करुणात्मकः ।
नाधौषीच्च यशो लोभादन्यायाधिगतैर्धनैः ॥१७॥

दुःखियों को देखकर उसकी करुणा उमड़ पड़ती थी और अन्याय-पूर्वक धन उपार्जन कर उसने अपने यश को नहीं कँपाया ॥१७॥

सौहार्ददृढभक्तित्वान्मैत्रेषु विगुणेष्वपि ।
नादिदासीददित्सीत्तु सौमुख्यात्स्वं स्वमर्थवत् ॥१८॥

मित्रता में दृढ़ भक्ति होने के कारण वह मित्र-पक्ष के लोगों से, चाहे वे गुण-रहित ही क्यों न हों, कुछ लेता नहीं था, बल्कि अपनी दयालुता (सौजन्य) के कारण उनके प्रयोजन के अनुसार उन्हें कुछ देता ही था ॥१८॥

अनिवेद्याग्रमर्हद्भ्यो नालिक्षत्किंचिदप्लुतः ।
गामधर्मेण नाधुक्षत्क्षीरतर्षेण गामिव ॥१९॥

जब तक वह स्नान नहीं करता था और जब तक पूज्य व्यक्तियों को अग्रभाग नहीं निवेदन करता था, तब तक (खाने पीने के लिए) कुछ छूता तक नहीं था । उसने अधर्मपूर्वक पृथ्वी को, जैसे दूध की प्यास से गाय को, कभी नहीं दूहा ।१९॥

नासृक्षद्बलिमप्राप्तं नारुक्षन्मानमैश्वरं ।
आगमैर्बुद्धिमाधिक्षद्धर्माय न तु कीर्तये ॥२०॥

उसने अनुचित कर नहीं लगाया, अपने ऐश्वर्य का अभिमान नहीं किया । शास्त्रों का अभ्यास करके उसने अपनी बुद्धि को, धर्म के लिए न कि कीर्ति के लिए, बढ़ाया ।२०॥

क्लेशार्हानपि कांश्चित्तु नाक्लिष्ट क्लिष्टकर्मणः ।
आर्यभावाच्च नाघुक्षद्द्विषतोऽपि सतो गुणान् ॥२१॥

जो कुछ लोग सताये जाने योग्य थे उन पापकर्माओं को भी उसने

१८—पाठ और अर्थ दोनों ही अनिश्चित है ।

२० (क)—He scattered the Bali oblation according to rule–उसने नियमानुसार बलि (पूजोपहार) बिखेरे–जौन्स्टन ।

क्लेश नहीं दिया और अपने सौजन्य के कारण उसने शत्रु के भी वास्तविक गुणों को नहीं छिपाया ॥२१॥

आकृक्षद्वपुषा दृष्टीः प्रजानां चन्द्रमा इव ।
परस्वं भुवि नामृक्षन्महाविषमिवोरगं ॥२२॥

वह अपने रूप से, चन्द्रमा की तरह, प्रजाओं की दृष्टि को आकृष्ट किया करता था; पृथ्वी पर दूसरे की सम्पत्ति को छूता नहीं था, जैसे कोई बड़ा विषैला साँप हो ॥२२॥

नाक्रुक्षद्विषये तस्य कश्चित्कैश्चित्क्वचित्क्षतः ।
अदिक्षत्तस्य हस्तस्थमार्तेभ्यो ह्यभयं धनुः ॥२३॥

उसके राज्य में कहीं कोई किसी से न क्षति-ग्रस्त होता था, न रोता था; क्योंकि उस (राजा) के हाथ में रहनेवाला धनुष आर्त जनों को अभय दान करता था ॥२३॥

कृतागसोऽपि प्रणतान्प्रागेव प्रियकारिणः ।
अदर्शत्स्निग्धया दृष्ट्या श्लक्ष्णेन वचसासिचत् ॥२४॥

वह शरण में आये हुए अपराधियों को भी, उपकार करनेवालों को तो पहले ही, स्नेह-भरी दृष्टि से देखता था और कोमल वाणी से नहलाता था ॥२४॥

बह्वीरध्यगमद्विद्या विषयेष्वकुतूहलः ।
स्थितः कार्तयुगे धर्मे धर्मात्कृच्छ्रेऽपि नास्रसत् ॥२५॥

विषयों से उदासीन रहकर उसने अनेक विद्याएँ प्राप्त कीं और कृतयुग के धर्म में रहता हुआ वह, सङ्कट में भी धर्म से च्युत नहीं हुआ ॥२५॥

अवर्धिष्ट गुणैः शश्वदवृधन्मित्रसंपदा ।
अवर्तिष्ट च वृद्धेषु नावृतद्गर्हिते पथि ॥२६॥

उसके गुणों की वृद्धि हुई, वह अपने मित्रों की समृद्धि में प्रसन्न हुआ, उसने बूढ़ों पर भरोसा किया, वह निन्दित मार्ग पर नहीं चला ॥२६॥

शरैरशीशमच्छत्रून् गुणैर्बन्धूनरीरमत् ।
रन्ध्रैर्नाचूचुदद्भृत्यान् करैर्नापीपिडत्प्रजाः ॥२७॥

उसने तीरों से शत्रुओं को शान्त किया, अपने गुणों से बन्धुओं को प्रसन्न किया, नौकरों को उनकी गलतियों के लिए नहीं फटकारा और कर लगाकर प्रजाओं को पीड़ित नहीं किया ॥२७॥

रक्षणाच्चैव शौर्याच्च निखिलां गामवीवपत् ।
स्पष्टया दण्डनीत्या च रात्रिसत्रानवीवपत् ॥२८॥

उसकी शूरता से सारी पृथ्वी जीती गई और उसकी सुरक्षा में सारी पृथ्वी बोई गई। स्पष्ट दण्डनीति का पालन कर उसने रात्रि-काल में बाधा डालनेवालों को शान्त किया ॥२८॥

कुलं राजर्षिवृत्तेन यशोगन्धमवीवपत् ।
दीप्त्या तम इवादित्यस्तेजसारीनवीवपत् ॥२९॥

राजर्षि की तरह आचरण करते हुए उसने अपने कुल को यशरूपी सुगन्ध से सुगन्धित किया और जैसे सूर्य अपने प्रकाश से अन्धकार दूर करता है, वैसे ही उसने अपने तेज से शत्रुओं को मार भगाया ॥२९॥

अपप्रथत्पितॄंश्चैव सत्पुत्रसदृशैर्गुणैः ।
सलिलेनेव चाम्भोदो वृत्तेनाजिह्लदत्प्रजाः ॥३०॥

उसने सुपुत्र के योग्य गुणों से अपने पूर्वजों की ख्याति को फैलाया

और जैसे मेघ जल बरसाकर लोगों को आनन्दित करता है वैसे ही उसने अपने आचार से प्रजाओं को प्रसन्न किया ॥३०॥

दानैरजस्रविपुलैः सोमं विप्रानसूषवत्।
राजधर्मस्थितत्वाच्च काले सस्यमसूषवत् ॥३१॥

निरन्तर भूरि भूरि दान देकर उसने ब्राह्मणों से सोम-रस तैयार करवाया और उसके द्वारा राज-धर्म का पालन किया जाने से समय पर फसल की उत्पत्ति हुई ॥३१॥

अधर्मिष्ठामचकथन्न कथामकथंकथः।
चक्रवर्तीव च परान्धर्मायाभ्युदसीषहत् ॥३२॥

उसने अधार्मिक बातें नहीं कीं, वह बार बार प्रश्न नहीं किया करता था और चक्रवर्ती (सम्राट्) के समान उसने दूसरों को धर्म की ओर प्रेरित (उत्साहित, आकृष्ट) किया ॥३२॥

राष्ट्रमन्यत्र च बलेर्न स किंचिददीदपत्।
भृत्यैरेव च सोद्योगं द्विषद्दर्पमदीदपत् ॥३३॥

उसने देश से कर के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिया और सैनिकों के उद्योग से शत्रुओं का अभिमान चूर्ण किया ॥३३॥

स्वैरेवादीदपच्चापि भूयो भूयो गुणैः कुलं।
प्रजा नादीदपच्चैव सर्वधर्मव्यवस्थया ॥३४॥

उसने अपने ही गुणों से अपने वंश को अत्यन्त उज्ज्वल किया और उसके द्वारा सब धर्मों की व्यवस्था की जाने से प्रजा को कोई कष्ट (संताप) नहीं हुआ ॥३४॥

अश्रान्तः समये यज्वा यज्ञभूमिममीमपत्।
पालनाच्च द्विजान् ब्रह्म निरुद्विग्नानमीमपत् ॥३५॥

थकावट अनुभव किये विना वह समय पर यज्ञ करता था, उसने यज्ञ-भूमि का माप करवाया। सुरक्षा का प्रबन्ध होने से द्विजों ने निर्भय होकर ब्रह्मचिन्तन किया ॥३५॥

गुरुभिर्विधिवत्काले सौम्यः सोममीमपत्।
तपसा तेजसा चैव द्विषत्सैन्यममीमपत् ॥३६॥

उस सौम्य ने समय पर गुरुजनों (पुरोहितों) द्वारा विधिपूर्वक सोम का माप करवाया। उसने अपनी तपस्या से (दोषों की) विपक्षी सेना को और अपने तेज से शत्रुओं की सेना को नष्ट किया ॥३६॥

प्रजाः परमधर्मज्ञः सूक्ष्मं धर्ममवीवसत्।
दर्शनाच्चैव धर्मस्य काले स्वर्गमवीवसत् ॥३७॥

उस परम धर्मज्ञ ने प्रजाओं को सूक्ष्म धर्म से युक्त किया और धर्म का दर्शन होने से उसने समय पर स्वर्ग में निवास किया ॥३७॥

व्यक्तमप्यर्थकृच्छ्रेषु नाधर्मिष्ठमतिष्ठिपत्।
प्रिय इत्येव चाशक्तं न संरागादवीवृधत् ॥३८॥

उसने किसी अधार्मिक को, चाहे वह सङ्कट-काल के लिए योग्य व्यक्ति ही क्यों न हो, नियुक्त नहीं किया और यह हमारा प्रिय जन है, ऐसा सोचकर पक्षपातपूर्वक किसी अयोग्य की उन्नति नहीं की। ३८॥

तेजसा च त्विषा चैव रिपून्दृप्तानबीभसत्।
यशोदीपेन दीप्तेन पृथिवीं च व्यबीभसत् ॥३९॥

उसने अपने तेज से अभिमानी शत्रुओं को भस्मसात् किया और

अपनी प्रभा से उन्हें निष्प्रभ किया और अपने यश के जलते हुए दीए से पृथ्वी को प्रकाशित किया ॥३९॥

आनृशंस्यान्न यशसे तेनादायि सदार्थिने।
द्रव्यं महदपि त्यक्त्वा न चैवाकीर्ति किंचन ॥४०॥

उसने दयालुता के कारण, न कि यश के लिए, सदा याचकों को दान दिया और बहुत सा धन दान करके भी उसने इसकी कीर्ति नहीं फैलाई ॥४०॥

तेनारिरपि दुःखार्तो नात्याजि शरणागतः।
जित्वा दृप्तानपि रिपून्न तेनाकारि विस्मयः ॥४१॥

उसने शरण में आये हुए दुःखी शत्रु का भी परित्याग नहीं किया। अभिमानी शत्रुओं को भी जीतकर उसने औद्धत्य प्रकट नहीं किया ॥४१॥

न तेनाभेदि मार्यादा कामाद्द्वेषाद्भयादपि।
तेन सत्स्वपि भोगेषु नासेवीन्द्रियवृत्तिता ॥४२॥

उसने काम (इच्छा), द्वेष या भय के कारण मर्यादा (औचित्य) का भङ्ग नहीं किया और भोगों के रहते हुए भी उसने इन्द्रियों की गुलामी नहीं की ॥४२॥

न तेनादर्शि विषमं कार्यं क्वचन किंचन।
विप्रियप्रिययोः कृत्ये न तेनागामि निक्रियाः ॥४३॥

उसने कहीं कोई विषमता या अकार्य किया, ऐसा नहीं देखा गया। उसने अपने प्रिय (मित्र) या अप्रिय (शत्रु) के लिए नोचता न की ॥४३॥

तेनापायि यथाकल्पं सोमश्च यश एव च ।
वेदश्चाम्नायि सततं वेदोक्तो धर्म एव च ॥४४॥

उसने यथाविधि सोम-रस पान किया और अपने यश की रक्षा की। उसने निरन्तर वेद पढ़ा और वेद-विहित धर्म का पालन किया ॥४४॥

एवमादिभिरत्यक्तो बभूवासुलभैर्गुणैः ।
अशक्यशक्यसामन्तः शाक्यराजः स शक्रवत् ॥४५॥

इस प्रकार के दुर्लभ गुणों से युक्त वह अजेय शाक्य-राज, जिसके सामन्त विनीत और वशवर्ती थे, इन्द्र के समान जान पड़ता था ॥४५॥

अथ तस्मिन्तथा काले धर्मकामा दिवौकसः ।
विचेरुर्दिशि लोकस्य धर्मचर्या दिदृक्षवः ॥४६॥

तब उस समय धर्माभिलाषी देवगण धर्माचरण देखने की इच्छा से संसार में चारों ओर घूमने लगे ॥४६॥

धर्मात्मानश्चरन्तस्ते धर्मजिज्ञासया जगत् ।
ददृशुस्तं विशेषेण धर्मात्मानं नराधिपं ॥४७॥

धर्म की जिज्ञासा से संसार में विचरण करते हुए उन धर्मात्माओं ने उस राजा को देखा, जो विशेष रूप से धर्मात्मा था ॥४७॥

देवेभ्यस्तुषितेभ्योऽथ बोधिसत्त्वः क्षितिं व्रजन् ।
उपपत्तिं प्रणिदधे कुले तस्य महीपतेः ॥४८॥

तुषित देवों के बीच से बोधिसत्त्व पृथ्वी पर उतर आये और उसने उस राजा के कुल में जन्म लेने का निश्चय किया ॥४८॥

तस्य देवी नृदेवस्य माया नाम तदाभवत् ।
वीतक्रोधतमोमाया मायेव दिवि देवता ॥४६॥

उस समय उस राजा के माया नाम की एक रानी थी, जो स्वर्ग में रहनेवाली माया नामक देवी के समान क्रोध अज्ञान और माया (वञ्चना) से रहित थी ॥४९॥

स्वप्नेऽथ समये गर्भमाविशन्तं ददर्श सा ।
षड्दन्तं वारणं श्वेतमैरावतमिवौजसा ॥५०॥

तब उचित समय पर उसने स्वप्न में छः दाँतवाले एक सफेद हाथी को, जो ऐरावत के समान शक्तिशाली था, अपने गर्भ में प्रवेश करते देखा ॥५०॥

तं विनिर्दिदिशुः श्रुत्वा स्वप्नं स्वप्नविदो द्विजाः ।
तस्य जन्म कुमारस्य लक्ष्मीधर्मयशोभृतः ॥५१॥

स्वप्न की बात सुनकर स्वप्न-विशारद द्विजोंने स्वप्न की व्याख्या करते हुए बतलाया कि लक्ष्मीवान् धर्मवान् और यशस्वी कुमार का जन्म होगा ॥५१॥

तस्य सत्त्वविशेषस्य जातौ जातिक्षयैषिणः ।
साचला प्रचचालोर्वी तरङ्गाभिहतेव नौः ॥५२॥

जन्म-विनाश के अभिलाषी उस सत्त्व-विशेष के जन्म में पर्वतों सहित पृथिवी काँप उठी, जैसे तरंगों से आहत होकर जहाज काँपता है ॥५२॥

सूर्यरश्मिभिरक्लिष्टं पुष्पवर्षं पपात खात् ।
दिग्वारणकराधूताद्वनाच्चैत्ररथादिव ॥५३॥

सूर्य की किरणों में नहीं कुम्हलाये हुए फूल आकाश से गिरे, जान

पड़ा जैसे दिग्गज अपनी सूंड़ों से चित्ररथ वन के वृक्षों को हिला रहे हों ।।५३।।

दिवि दुन्दुभयो नेदुर्दीव्यतां मरुतामिव ।
दिदीपेऽभ्यधिकं सूर्यः शिवश्च पवनो ववौ ।।५४।।

आकाश में दुन्दुभियाँ बजीं, जैसे मरुद्गण क्रीड़ा कर रहे हों । सूर्य अत्यन्त प्रज्वलित हुआ और कल्याणकारी हवा बहने लगी ।।५४।।

तुतुषुस्तुषिताश्चैव शुद्धावासाश्च देवताः ।
सद्धर्मबहुमानेन सत्त्वानां चानुकम्पया ।।५५।।

सद्धर्म के प्रति सम्मान-भाव तथा प्राणियों के ऊपर दया-भाव होने के कारण तुषित और शुद्धावास देवगण प्रसन्न हुए । ।।५५।।

समाययौ यशःकेतुं श्रेयःकेतुकरः परः ।
बभ्राजे शान्तया लक्ष्म्या धर्मो विग्रहवानिव ।।५६।।

कल्याण की पताका धारण करनेवाला वह सत्त्व-विशेष यश की चोटी पर चढ़ गया और शांत श्री के साथ ऐसे विराजा, जैसे मूर्त्त धर्म हो ।।५६।।

देव्यामपि यवीयस्यामरण्यामिव पावकः ।
नन्दो नाम सुतो जज्ञे नित्यानन्दकरः कुले ।।५७।।

जैसे अरणि (लकड़ी) से अग्नि उत्पन्न होती है, वैसे ही छोटी रानी से नन्द नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो अपने कुल के लिए सदा आनन्द-दायक था ।।५७।।

दीर्घबाहुर्महावक्षाः सिंहांसो वृषभेक्षणः ।
वपुषाग्र्येण यो नाम सुन्दरोपपदं दधे ।।५८।।

उसकी बाहुएँ लम्बी थीं, छाती विशाल थी, कंधे सिंह के से थे और

आँखें वृषभ की सी थीं। अत्यन्त रूपवान् होने के कारण उसे सुन्दर की पदवी मिली ॥५८॥

मधुमास इव प्राप्तश्चन्द्रो नव इवोदितः ।

अङ्गवानिव चानङ्गः स बभौ कान्तया श्रिया ॥५९॥

आये हुए मधुमास के समान, उगे हुए नये चन्द्रमा के समान तथा मूर्तिमान् कामदेव के समान वह कमनीय श्री के साथ शोभित हुआ ॥५९॥

स तौ संवर्धयामास नरेन्द्रः परया मुदा ।

अर्थः सज्जनहस्तस्थो धर्मकामौ महानिव ॥६०॥

उस राजा ने उन दोनों को परम प्रसन्नतापूर्वक पाला-पोसा, जैसे सज्जन के हाथ में रहनेवाला विपुल धन धर्म और काम को बढ़ाता है ॥६०॥

तस्य कालेन सत्पुत्रौ ववृधाते भवाय तौ ।

आर्यस्यारम्भमहतो धर्मार्थाविव भूतये ॥६१॥

काल-क्रम से उसके दोनों सुपुत्र उसके कल्याण के लिए बढ़ने लगे, जैसे धर्म और अर्थ उस आर्य की समृद्धि के लिए बढ़ते हैं जो (सत्कार्यके) आरम्भ के कारण महान् है ॥६१॥

तयोः सत्पुत्रयोर्मध्ये शाक्यराजो रराज सः ।

मध्यदेश इव व्यक्तो हिमवत्पारिपात्रयोः ॥६२॥

उन सुपुत्रों के बीच वह शाक्य-राज ऐसे शोभित हुआ, जैसे हिमालय और पारियात्र के बीच प्रकट हुआ मध्यदेश ॥६२॥

ततस्तयोः संस्कृतयोः क्रमेण नरेन्द्रसून्वोः कृतविद्ययोश्च ।

कामेष्वजस्रं प्रममाद नन्दः सर्वार्थसिद्धस्तु न संररञ्ज ॥६३॥

तब क्रम से उन दोनों राजपुत्रों के (उपनयन आदि) संस्कार हुए

और उन्होंने विद्याएँ प्राप्त कीं। नन्द निरन्तर विषयों में आसक्त रहा, किंतु सर्वार्थसिद्ध (=सिद्धार्थ) उनमें आसक्त नहीं हुआ ॥६३॥

स प्रेक्ष्यैव हि जीर्णमातुरं च मृतं च
विमृशन् जगदनभिज्ञमार्तचित्तः
हृदयगतपरघृणो न विषयरतिमगम-
ज्जननमरणभयमभितो विजिघांसुः ॥६४॥

बूढ़े रोगी और मरे हुए को देखकर दुःखितचित्त हो सिद्धार्थ ने संसार को अनभिज्ञ (अज्ञानी) समझा। उसके हृदय में दूसरों के प्रति दया उत्पन्न हो गई और उसने जन्म और मरण को अच्छी तरह नष्ट कर डालना चाहा, इसलिए उसे विषयों में आनन्द नहीं मिला। ६४॥

उद्वेगादपुनर्भवे मनः प्रणिधाय
स ययौ शयितवराङ्गनादनास्थः।
निशि नृपतिनिलयनाद्वनगमनकृतमना:
सरस इव मथितनलिनात्कलहंसः ॥६५॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये राजवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः।

उद्वेग के कारण उसने मोक्ष (=निर्वाण) में मन लगाया और वन जाने का निश्चय किया; वह रात्रि-काल में उस राज-भवन से, जिसमें उत्तम उत्तम स्त्रियाँ सोई हुई थीं, उदास होकर चला गया, जैसे सरोवर से, जिसके कमल नष्ट-भ्रष्ट हो गये हों, कलहंस बिदा हो जाता है ॥६५॥

सौन्दरनन्द महाकव्य में "राज-वर्णन"
नामक द्वितीय सर्ग समाप्त

———

तृतीय सर्ग

तथागत

तपसे ततः कपिलवास्तु हयगजरथौघसंकुलं।
श्रीमदभयमनुरक्तजनं स विहाय निश्चितमना वनं ययौ ॥१॥

तब वह उस कपिलवास्तु को, जो घोड़ों हाथियों और रथों से भरा था, श्री से युक्त था, भय से मुक्त था और जहाँ के लोग उससे अनुराग करते थे, छोड़कर तपस्या करने के लिए निश्चयपूर्वक वन को चला गया ॥१॥

विविधागमांस्तपसि तांश्च विविधनियमाश्रयान्मुनीन्।
प्रेक्ष्य स विषयतृषाकृपणाननवास्थितं तप इति न्यवर्तत ॥२॥

विविध शास्त्रों के अनुसार तपस्या करनेवाले मुनिगण विविध नियमों का पालन कर रहे हैं, और विषयों की तृष्णा से कृपण हैं, ऐसा देखकर उसने तप के फल को अस्थिर माना और वहाँ से लौट गया ॥ २॥

अथ मोक्षवादिनमराडमुपशममतिं तथोद्रकं।
तत्त्वकृतमतिरुपास्य जहावयमप्यमार्ग इति मार्गकोविदः ॥३॥

तब उसने, जिसका मन तत्त्व की प्राप्ति में लगा हुआ था, मोक्षवादी अराड और शम (शान्ति)—वादी उद्रक की उपासना की; किंतु उस मार्गवेत्ता (-दर्शी) ने 'यह भी (सच्चा)—मार्ग नहीं है' ऐसा सोचकर उन्हें छोड़ दिया ॥३॥

स विचारयन् जगति किं नु परममिति तं तमागमं।
निश्चयमनधिगतः परतः परमं चचार तप एव दुष्करं ॥४॥

संसार के विविध आगमों (पन्थों, शास्त्रों) में कौन सर्व-श्रेष्ठ है,

इस पर विचार करता हुआ वह दूसरों के सहारे किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सका, तब उसने दुष्कर तपस्या ही की ॥४॥

अथ नैष मार्ग इति वीक्ष्य तदपि विपुलं जहौ तपः ।
ध्यानविषयमवगम्य परं बुभुजे वरान्नममृतत्वबुद्धये ॥५॥

तब 'यह (सच्चा) मार्ग नहीं है' ऐसा देखकर उसने अपनी उस विशाल तपस्या को भी छोड़ा और ध्यान के विषय को श्रेष्ठ समझकर अमृतत्व को समझने के लिए उत्तम अन्न ग्रहण किया ।५।

स सुवर्णपीनयुगबाहुर्ऋषभगतिरायतेक्षणः ।
प्लक्षमवनिरुहमभ्यगमत्परमस्य निश्चयविधेर्बुभुत्सया ॥६॥

निश्चय पर पहुँचने के लिए कौन-सा तरीका उत्तम है, यह जानने की इच्छा से वह—जिसकी जुए की-सी लम्बी बाहुएँ सुनहली और मोटी थीं, जिसकी चाल साँड़ की-सी थी और जिसकी आँखें बड़ी बड़ी थीं—पीपल वृक्ष के समीप गया ॥६॥

उपविश्य तत्र कृतबुद्धिरचलधृतिरद्रिराजवत् ।
मारबलमजयदुग्रमथो बुबुधे पदं शिवमहार्यमव्ययं ॥७॥

वहाँ वह दृढ़तापूर्वक बैठ गया, उसका धैर्य अद्रिराज (हिमालय) के समान अविचल था, उसने मार की उग्र सेना को जीता, और तब उस पद को समझा जो मङ्गलमय अविनाशी और नित्य है ॥७॥

अवगम्य तं च कृतकार्यममृतमनसो दिवौकसः ।
हर्षमतुलमगमन्मुदिता विमुखी तु मारपरिषत्प्रचुक्षुभे ॥८॥

उन्होंने अपना कार्य पूरा कर लिया है, यह जानकर देवगण अत्यन्त

८—परिषद् के लिए देखिये बु० च० तेरह ५५ ।

प्रसन्न हुए ; किंतु वहाँ से लौटी हुई मार की सेना को बड़ा क्षोभ हुआ ॥८॥

सनगा च भूः प्रविचचाल हुतवहसखः शिवो ववौ ।
नेदुरपि च सुरदुन्दुभयः प्रववर्ष चाम्बुधरवर्जितं नभः ॥९॥

पर्वतों सहित पृथ्वी काँप उठी, कल्याण-कारी हवा बहने लगी, देव-दुन्दुभियाँ बजीं, और विना बादल के आकाश से वृष्टि हुई ॥९॥

अवबुध्य चैव परमार्थमजरमनुकम्पया विभुः ।
नित्यममृतमुपदर्शयितुं स वराणसीपरिकरामयात्पुरीं ॥१०॥

अविनाशी परमार्थ को जानकर भगवान् शाश्वत अमृत का दर्शन कराने के लिए वराणसी से घिरी हुई पुरी को गये ॥१०॥

अथ धर्मचक्रमृतनाभि धृतिमतिसमाधिनेमिमत् ।
तत्र विनयनियमारमृषिर्जगतो हिताय परिषद्यवर्तयत् ॥११॥

तब जगत् के हितके लिए मुनि ने वहाँ की परिषद् में वह धर्म-चक्र चलाया जिसकी नाभि (नाहा) है सत्य, जिसकी पुट्ठियाँ हैं धृति ज्ञान और समाधि तथा जिसके आरे (कीलक) हैं विनय और नियम ॥११॥

इति दुःखमेतदियमस्य समुदयलता प्रवर्तिका ।
शान्तिरियमयमुपाय इति प्रविभागशः परमिदं चतुष्टयं ॥१२॥

यह दुःख है, यह इसकी समुदय-लता (कारण) है जो प्रवृत्ति में लगाती है, यह निरोध है और यह (निरोध का) उपाय; परम सत्य के ये चार विभाग हैं; ॥१२॥

१०—वरना और असी नाम की दो नदियाँ अब भी काशी में बहती हैं ।

अभिधाय च त्रिपरिवर्तमतुलमनिवर्त्यमुत्तमं।
द्वादशनियतविकल्पमृषिर्विनिनाय कौण्डिनसगोत्रमादितः ॥१३॥

इसकी तीन अवस्थाएँ हैं, और बारह निश्चित भेद हैं, यह (सत्य) अनुपम निर्विवाद और उत्तम है, इस तरह व्याख्या करके मुनि ने पहले पहल कौण्डिन्य को विनीत (दीक्षित) किया ॥१३॥

स हि दोषसागरमगाधमुपधिजलमाधिजन्तुकं।
क्रोधमदभयतरङ्गचलं प्रततार लोकमपि च व्यतारयत् ॥१४॥

उन्होंने दोषों के अगाध सागर को, छल-कपट ही जिसका जल है, (मानसिक) आधियाँ ही जिसके जन्तु हैं, और जो क्रोध मद एवं भय के तरङ्गों से चञ्चल है, स्वयं (तैर कर) पार किया और लोगों को भी पार किया ॥१४॥

स विनीय काशिषु गयेषु बहुजनमथो गिरिव्रजे।
पित्र्यमपि परमकारुणिको नगरं ययावनुजिघृक्षया तदा ॥१५॥

उन्होंने काशी, गया और गिरिव्रज (राजगृह) में बहुत से लोगों को विनीत किया और तब वह परम कारुणिक पितृ-नगर के ऊपर भी अनुग्रह करने की इच्छा से वहाँ गये ॥१५॥

विषयात्मकस्य हि जनस्य बहुविविधमार्गसेविनः।
सूर्यसदृशवपुरभ्युदितो विजहार सूर्य इव गौतमस्तमः ॥१६॥

उगते हुए सूर्य की सी आकृतिवाले गौतम मुनि ने विषयों में डूबे हुए लोगों का, जो भाँति भाँति के बहुत से मार्गों पर चल रहे थे, अज्ञान नष्ट किया, जैसे उगता हुआ सूर्य अन्धकार को दूर करता है ॥१६॥

अभितस्ततः कपिलवास्तु परमशुभवास्तुसंस्तुतं ।
वस्तुमतिशुचि शिवोपवनं स ददर्श निःस्पृहतया यथा वनं ॥१७॥

तब अपने चारों ओर कपिलवस्तु को, जो अत्यन्त सुन्दर निवास-भवनों के लिए विख्यात था, जो सम्पत्ति और बुद्धि में पवित्र था तथा जो कल्याणकारी उपवनों से युक्त था, उन निःस्पृह (निरभिलाष) ने ऐसे देखा जैसे जंगल को देख रहे हों ॥१७॥

अपरिग्रहः स हि बभूव नियतमतिरात्मनीश्वरः ।
नैकविधभयकरेषु किमु स्वजनस्वदेशजनमित्रवस्तुषु ॥१८॥

क्योंकि उन स्थिरबुद्धि ने, जो अपने के ईश्वर (स्वामी) आप थे, (धर्माचरण में) अनेक प्रकार के विघ्न डालनेवाले स्वजन स्वदेशवासी मित्र और सम्पत्ति से अपना सब नाता तोड़ लिया था ॥१८॥

प्रतिपूजया न स जहर्ष न च शुचमवज्ञयागमत् ।
निश्चितमतिरसिचन्दनयोर्न जगाम दुःखसुखयोश्च विक्रियां ॥१९॥

सम्मान पाकर उन्हें हर्ष नहीं हुआ और अपमान से शोक नहीं हुआ। वह स्थिरबुद्धि तलवार या चन्दन से दुःख या सुख के विकार (भाव) को नहीं प्राप्त हुए ॥१९॥

अथ पार्थिवः समुपलभ्य सुतमुपगतं तथागतं ।
तूर्णमबहुतुरगानुगतः सुतदर्शनोत्सुकतयाभिनिर्ययौ ॥२०॥

तब अपने पुत्र तथागत को समीप में आया हुआ जानकर राजा (शुद्धोदन) पुत्र को देखने की उत्सुकता से कुछ ही घोड़ों के साथ बाहर निकल गया ॥२०॥

१७—पा० 'वास्तुमतिशुचि' ।

सुगतस्तथागतमवेक्ष्य नरपतिमधीरमाशया।
शेषमपि च जनमश्रुमुखं विनिनीषया गगनमुत्पपात ह ॥२१॥

उस प्रकार आये हुए राजा को आशा से अधीर तथा दूसरे लोगों को रोते हुए देखकर सुगत उन्हें विनीत करने की इच्छा से आकाश में उड़ गये ॥२१॥

स विचक्रमे दिवि भुवीव पुनरुपविवेश तस्थिवान्।
निश्चलमतिरशयिष्ट पुनर्बहुधाभवत्पुनरभूत्तथैकधा ॥२२॥

वह आकाश में ऐसे चले जैसे पृथ्वी पर, फिर वहाँ खड़े हुए और बैठ गये। वह स्थिरबुद्धि फिर सो रहे, फिर अनेक रूपों में विभक्त हुए और फिर एक हो गये ॥२२॥

सलिले क्षिताविव चचार जलमिव विवेश मेदिनीं।
मेघ इव दिवि ववर्ष पुनः पुनरज्वलन्नव इवोदितो रविः ॥२३॥

पानी में ऐसे चले जैसे पृथ्वी पर, पृथ्वी में ऐसे घुसे जसे पानी में। फिर आकाश में मेघ के समान जल बरसाया और फिर उगे हुए बाल सूर्य के समान प्रज्वलित हुए ॥२३॥

युगपज्ज्वलन् ज्वलनवच्च जलमवसृजंश्च मेघवत्।
तप्तकनकसदृशप्रभया स बभौ प्रदीप्त इव सन्ध्यया घनः ॥२४॥

एक ही साथ अग्नि के समान प्रज्वलित होते हुए और मेघ के समान जल बरसाते हुए वह तपे हुए सोने की-सी प्रभा से ऐसे शोभित हुए जैसे सन्ध्याकालीन आभा से बादल प्रदीप्त होता है ॥२४॥

तमुदीक्ष्य हेममणिजालवलयिनमिवोत्थितं ध्वजं।
प्रीतिमगमदतुलां नृपतिर्जनता नताश्च बहुमानमभ्ययुः ॥२५॥

सुवर्ण और मणियों से विभूषित ध्वजा के समान उन्हें (आकाश में)

उठा हुआ देखकर राजा को अपार आनन्द हुआ और जनता ने झुककर उनका सम्मान किया ।।२५।।

अथ भाजनीकृतमवेक्ष्य मनुजपतिमृद्धिसंपदा ।
पौरजनमपि च तत्प्रवणं निजगाद धर्मविनयं विनायकः ।।२६।।

तब यह देखकर कि ऋद्धियों के प्रदर्शन से राजा धर्मग्रहण के योग्य हो गया है और जनता अपनी ओर झुका हुआ है. बिनायक (बुद्ध) ने धर्म और विनय का उपदेश दिया ।।२६।।

नृपतिस्ततः प्रथममाप फलममृतधर्मसिद्धये ।
धर्ममतुलमधिगम्य मुनेर्मुनये ननाम स यतो गुराविव ।।२७।।

तब राजा ने अमर धर्म की सिद्धि के लिए प्रथम फल प्राप्त किया और मुनि का अनुपम धर्म प्राप्त कर उसने मुनि को ऐसे प्रणाम किया जैसे गुरू को ।।२७।।

बहवः प्रसन्नमनसोऽथ जननमरणार्तिभीरवः ।
शाक्यतनयवृषभाः कृतिनो वृषभा इवानलभयात्प्रवव्रजुः ।।२८।।

तब जन्म और मरण के दुःख से डरे हुए बहुत से पुण्यवान् श्रेष्ठ शाक्य-पुत्र प्रसन्न मन से प्रव्रजित हुए, जैसे अग्नि के डर से साँड (अपने निवास-स्थान से) बाहर निकल पड़ते हैं ।।२८।।

विजहुस्तु येऽपि न गृहाणि तनयपितृमात्रपेक्षया ।
तेऽपि नियमविधिमामरणाज्जगृहुश्च युक्तमनसश्च दध्रिरे ।।२९।।

माता-पिता तथा पुत्र को देखते हुए जिन्होंने घर नहीं छोड़े उन्होंने भी आमरण नियम-व्रत ग्रहण किये तथा मनोयोगपूर्वक उनका पालन किया ।।२९।।

२७—पा० '० धर्मसिद्धयोः'

न जिहिंस सूक्ष्ममपि जन्तुमपि परवधोपजीवनः।
किं बत विपुलगुणः कुलजः सदयः सदा किमु मुनेरुपासया ॥३०॥

दूसरों के वध से जीनेवाले (व्याध) ने सूक्ष्म से सूक्ष्म जन्तु की भी हिंसा न की, फिर महागुणवान् कुलीन तथा मुनि की उपासना से सदा दयावान् पुरुष का क्या कहना ॥३०॥

अकृशोद्यमः कृशधनोऽपि परपरिभवासहोऽपि सन्।
नान्यधनमपजहार तथा भुजगादिवान्यविभवाद्धि विव्यथे ॥३१॥

उसी प्रकार महापरिश्रमी मनुष्य ने, दरिद्र होने पर भी तथा (अपनी दरिद्रता के कारण) दूसरों से होनेवाले अपमान को सहने में असमर्थ होने पर भी, दूसरों का धन नहीं चुराया; क्योंकि वह दूसरों की सम्पत्ति से वैसे ही डरता था जैसे सांप से ॥३१॥

विभवान्वितोऽपि तरुणोऽपि विषयचपलेन्द्रियोऽपि सन्।
नैव च परयुवतीरगमत्परमं हि ता दहनतोऽप्यमन्यत ॥३२॥

सम्पत्तिशाली होने पर भी, तरुण होने पर भी तथा विषयों के कारण चपलेन्द्रिय होने पर भी कोई आदमी दूसरों की युवती स्त्रियों के समीप नहीं गया; क्योंकि उसने उन्हें अग्नि से भी बढ़कर दाहक माना ॥३२॥

अनृतं जगाद न च कश्चि-
दृतमपि जजल्प नाप्रियं।
श्लक्ष्णमपि च न जगावहितं
हितमप्युवाच न च पैशुनाय यत् ॥३३॥

किसी ने असत्य नहीं कहा, सत्य वचन कहा किंतु अप्रिय नहीं। ऐसी चिकनी-चुपड़ी बात भी नहीं कही जो अहितकारी हो। हितकारी वचन कहा और किसी की चुगली नहीं की ॥३३॥

मनसा लुलोभ न च जातु परवसुषु गृद्धमानसः ।
कामसुखमसुखतो विमृशन्विजहार तृप्त इव तत्र सज्जनः ॥३४॥

किसी ने अपने मन में लोभ नहीं किया, दूसरे की चीजों से किसी का जी नहीं ललचा । विषयों के सेवन से होनेवाले सुख को दुःख समझ कर सज्जन पुरुष ने इस प्रकार आचरण किया मानो (विषय-सेवन के विना ही) वह विषयों में तृप्त हो चुका हो ॥३४॥

न परस्य कश्चिदपघातमपि च सघृणो व्यचिन्तयत् ।
मातृपितृसुतसुहृत्सदृशं स ददर्श तत्र हि परस्परं जनः ॥३५॥

सब लोग दयालु थे, और किसी ने, दूसरे को हानि पहुँचाने की कल्पना तक नहीं की; क्योंकि लोगों ने एक-दूसरे को माता पिता पुत्र और मित्र के समान देखा ॥३५॥

नियतं भविष्यति परत्र भवदपि च भूतमप्यथो ।
कर्मफलमपि च लोकगतिर्नियतेति दर्शनमवाप साधु च ॥३६॥

कर्म का नियत फल भविष्य में प्राप्त होगा, (वर्तमान में) प्राप्त हो रहा है और (अतीत में) प्राप्त हुआ है; (कर्म के अनुसार ही) संसार में जीवों की गति निश्चित होती है, यह सम्यक् दृष्टि उन्होंने प्राप्त की ॥३६॥

३६—"मनुष्य कर्मों के अवश्यम्भावी फल को भोगता है । अपने अपने कर्मों के अनुसार जीवों की तीन प्रकार की गति देखी गई है—स्वर्ग-लोक की प्राप्ति, मनुष्य-योनि में जन्म लेना और पशु-पक्षी आदि योनियों में उत्पन्न होना"—कल्याण, महाभारताङ्क, युधिष्ठिर और सर्प के प्रश्नोत्तर, पृ० ३५१ । बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार ये पाँच गति हैं—नरक, प्रेत, तिर्यक् (पशु-पक्षी), मानुष और देव, तथा कहीं कहीं छठी गति आसुर भी है ।

इति कर्मणा दशविधेन
परमकुशलेन भूरिणा।
भ्रंशिनि शिथिलगुणोऽपि युगे
विजहार तत्र मुनिसंश्रयाज्जनः ॥३७॥

भ्रष्ट युग में सद्गुणों से विमुख (उदासीन) होने पर भी, मुनि के आश्रय में रहकर लोगों ने परम कल्याण-कारी दस सुकर्मों का आचरण किया ॥३७॥

न च तत्र कश्चिदुपपत्तिसुखमभिललाष तैर्गुणैः।
सर्वमशिवमवगम्य भवं भवसंक्षयाय ववृते न जन्मने ॥३८॥

अपने उन सद्गुणों के कारण किसी ने जन्म-सुख (जीवन के भोगों) की अभिलाषा नहीं की। सम्पूर्ण भव (जन्म, संसार) को अमङ्गलमय

३७—पा० 'शिथिलगुणोऽपि'। दस सुकर्म (=कुशल कर्म-पथ) ये हैं-(१) प्राणातिपात-विरति (=हिंसा नहीं करना) (२) अदत्तादान-विरति (=चोरी नहीं करना) (३) काम-मिथ्याचार-विरति (=व्यभिचार नहीं करना) (४) मृषावाद-विरति (=झूठ नहीं बोलना) (५) पिशुन वचन-विरति (=चुगली नहीं करना) (६) परुष वचन-विरति (=कटु वचन नहीं कहना) (७) प्रलाप-विरति (=बकवाद नहीं करना या फजूल नहीं बोलना) (८) अनू-अभिध्या (=लोभ नहीं करना) (९) अव्यापाद (=द्रोह नहीं करना) (१०) सम्यक् दृष्टि। पिछले सात श्लोकों में इनमें से ८ सुकर्मों का वर्णन है। डा० जौन्स्टन के अनुसार ३३ और ३४ के बीच का श्लोक अप्राप्त है, जिसमें शेष दो सुकर्मों का वर्णन आया होगा।

समझकर लोगों ने भव-विनाश (मोक्ष) के लिए आचरण किया, न कि पुनर्जन्म के लिए ॥३८॥

अकथंकथा गृहिण एव परमपरिशुद्धदृष्टयः ।
स्रोतसि हि वव्रृतिरे बहवो रजसस्तनुत्वमपि चक्रिरे परे ॥३९॥

गृहस्थ शङ्का-सूचक प्रश्नों से भरे नहीं थे, उनकी दृष्टि (विचार, ज्ञान) परम परिशुद्ध थी । बहुत से लोग स्रोत-आपन्न हुए, और दूसरों ने रजस् (राग द्वेष रूपी दोषों) को क्षीण किया ॥३९॥

ववृतेऽत्र योऽपि विषयेषु
विभवसदृशेषु कश्चन ।
त्यागविनयनियमाभिरतो
विजहार सोऽपि न चचाल सत्पथात् ॥४०॥

जो कोई विनाश-तुल्य विषयों में आसक्त था, वह भी त्याग, विनय और नियम में रत हुआ और सन्मार्ग से विचलित नहीं हुआ ॥४०॥

अपि च स्वतोऽपि परतोऽपि न भयमभवन्न दैवतः ।
तत्र च सुसुखसुभिक्षगुणैर्जहृषुः प्रजाः कृतयुगे मनोरिव ॥४१॥

अपने से पराये से वा दैव से किसी को कोई भय नहीं था, सुख सुभिक्षा (अन्न की सुलभता) और सद्गुणों के कारण प्रजा प्रसन्न थी वैसे ही जैसे कि (राजा) मनु के कृतयुग में ॥४१॥

४०—पा० 'विषमेषु' ।

इति मुदितमनामयं निरापत्कुरुरघुपूरुपुरोपमं पुरं तत् ।
अभवदभयदैशिके महर्षौ विहरति तत्र शिवाय वीतरागे ॥४२॥

इति सौन्दरनन्दे महाकाव्ये तथागतवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ।

कुरु रघु और पूरु के नगर के समान वह नगर प्रसन्न रोग-रहित और आपत्ति-रहित था, वहाँ अभय का उपदेश करनेवाले वीतराग महर्षि सब के मङ्गल के लिए विहार कर रहे थे ॥४२॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "तथागत-वर्णन"
नामक तृतीय सर्ग समाप्त ।

चतुर्थ सर्ग

पत्नी की अनुमति ❀

मुनौ ब्रुवाणेऽपि तु तत्र धर्मं धर्मं प्रति ज्ञातिषु चादृतेषु ।
प्रासादसंस्थो मदनैककार्यः प्रियासहायो विजहार नन्दः ॥१॥

यद्यपि वहाँ (कपिलवस्तु में) मुनि धर्मोपदेश कर रहे थे और उनके जाति-भाई धर्म के प्रति आदर-भाव दिखा रहे थे, तो भी कामासक्त नन्द महल में रहकर अपनी प्रियतमा के साथ विहार कर रहा था ॥१॥

स चक्रवाक्येव हि चक्रवाकस्तया समेतः प्रियया प्रियार्हः ।
नाचिन्तयद्वैश्रमणं न शक्रं तत्स्थानहेतोः कुत एव धर्मं ॥२॥

चक्रवाकी से युक्त चक्रवाक के समान, उस प्रियतमा से युक्त नन्द ने, जो कि अपनी प्रियतमा के (सर्वथा) योग्य था, उसकी उपस्थिति के कारण न कुवेर की पर्वाह की, न इन्द्र की, फिर धर्म की कहाँ से ॥२॥

लक्ष्म्या च रूपेण च सुन्दरीति स्तम्भेन गर्वेण च मानिनीति ।
दीप्त्या च मानेन च भामिनीति यातो बभाषे त्रिविधेन नाम्ना ॥३॥

शोभा और रूप के कारण सुन्दरी, हठ और गर्व के कारण मानिनी तथा दीप्ति और मनस्विता के कारण भामिनी——इस प्रकार इन तीन नामों से वह पुकारी जाती थी ॥३॥

❀ भार्या-याचितक = भार्या से माँगकर पाई गई वस्तु = गुरु-दर्शन की अनुमति ।

सा हासहंसा नयनद्विरेफा पीनस्तनात्युन्नतपद्मकोशा ।
भूयो बभासे स्वकुलोदितेन स्त्रीपद्मिनी नन्ददिवाकरेण ॥४॥

मुस्कानरूप हंसवाली, नेत्ररूप भ्रमर वाली और पीन-स्तन-रूप उन्नत कमलकोशवाली वह स्त्रीरूपी पद्मिनी (सरोवर) सूर्यवंश में उदय हुए नन्दरूप सूर्य से अत्यन्त भासित हुई ॥४॥

रूपेण चात्यन्तमनोहरेण रूपानुरूपेण च चेष्टितेन ।
मनुष्यलोके हि तदा बभूव सा सुन्दरी स्त्रीषु नरेषु नन्दः ॥५॥

अत्यन्त मनोहर रूप के कारण और रूप के ही अनुरूप चेष्टा के कारण, मनुष्य-लोक में उस समय स्त्रियों के बीच सुन्दरी और पुरूषों के बीच नन्द (अनुपम) था ॥५॥

सा देवता नन्दनचारिणीव कुलस्य नन्दीजननश्च नन्दः ।
अतीत्य मर्त्याननुपेत्य देवान् सृष्टावभूतामिव भूतधात्रा ॥६॥

नन्दन-वन में विचरण करनेवाली देवता-तुल्य सुन्दरी को और कुल को आनन्दित करनेवाले नंद को विधाता ने मानो मनुष्यों के ऊपर और देवों के नीचे (अर्थात् मनुष्य-जाति और देव-जाति के बीच में) सृजन किया था ॥६॥

तां सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्दः सा वा निषेवेत न तं नतभ्रूः ।
द्वन्द्वं ध्रुवं तद्विकलं न शोभेतान्योन्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ ॥७॥

यदि नन्द उस सुन्दरी को प्राप्त नहीं करता या यदि आनत (टेढ़ी) भौंहोंवाली सुन्दरी ही उसे नहीं प्राप्त करती तो वे दोनों निश्चय ही एक-दूसरे के अभाव में वैसे ही शोभित नहीं होते, जैसे कि एक दूसरे से अलग होकर रात्रि और चन्द्रमा ॥७॥

कन्दर्परत्योरिव लक्ष्यभूतं प्रमोदनान्द्योरिव नीडभूतं ।
प्रहर्षतुष्ट्योरिव पात्रभूतं द्वन्द्वं सहारंस्त मदान्धभूतं ॥८॥

कामदेव और रति का मानो लक्ष्य होकर, प्रमोद और आनन्द का मानो नीड़ (घोंसला, निवास-स्थान) होकर, हर्ष और संतुष्टि का मानो पात्र होकर, उस कामान्ध जोड़ी ने एक दूसरे के साथ रमण किया ॥८॥

परस्परोद्वीक्षणतत्पराक्षं परस्परव्याहृतसक्तचित्तं ।
परस्पराश्लेषहृताङ्गरागं परस्परं तन्मिथुनं जहार ॥६॥

उनकी आँखें एक-दूसरे को देखने में लीन थीं, उनके चित्त एकदूसरे के साथ बातें करने में व्यस्त थे, और एक-दूसरे का आलिङ्गन करते करते उनका अङ्गराग मिट गया था; इस प्रकार उस जोड़ी ने एक दूसरे को आकृष्ट किया ॥९॥

भावानुरक्तौ गिरिनिर्झरस्थौ तौ किंनरीकिंपुरुषाविवोभौ ।
चिक्रीडतुश्चाभिविरेजतुश्च रूपश्रियान्योन्यमिवाक्षिपन्तौ ॥१०॥

पर्वत के झरने पर (सर्व-) भाव से (एक-दूसरे के प्रति) अनुरक्त किंपुरुष और किन्नरी के समान क्रीड़ा करते हुए वे दोनों शोभित हो रहे थे, मानो अपनी अपनी रूपशोभा से एक दूसरे को चुनौती दे रहे थे ॥१०॥

अन्योन्यसंरागविवर्धनेन तद्द्वन्द्वमन्योन्यमरीरमच्च ।
क्लमान्तरेऽन्योन्यविनोदनेन सलीलमन्योन्यममीमदच्च ॥११॥

पारस्परिक अनुराग बढ़ाकर उस (प्रेमी-) युगल ने परस्पर रमण किया और थकावट होने पर एक-दूसरे का मनोविनोद करके लीलापूर्वक एक-दूसरे को प्रमत्त किया ॥११॥

विभूषयामास ततः प्रियां स सिषेविषुस्तां न मृजावहार्थं।
स्वेनैव रूपेण विभूषिता हि विभूषणानामपि भूषणं सा ॥१२॥

एक बार सेवा करने की इच्छा से न कि सिंगार सजावट के लिए उसने अपनी प्रिया को विभूषित किया; क्योंकि अपने ही (स्वाभाविक) रूप से विभूषित सुन्दरी आभूषणों का भी आभूषण थी ॥१२॥

दत्त्वाथ सा दर्पणमस्य हस्ते ममाग्रतो धारय तावदेनं।
विशेषकं यावदहं करोमीत्युवाच कान्तं स च तं बभार ॥१३॥

तब अपने प्रियतम के हाथ में दर्पण देकर उसने कहा—"जब तक मैं अपना अङ्गराग (विशेषक) करती हूँ तब तक इसे मेरे आगे धारण करो" और नन्द ने उस (दर्पण) को धारण किया ॥१३॥

भर्तुस्ततः श्मश्रु निरीक्षमाणा विशेषकं सापि चकार तादृक्।
निश्वासवातेन च दर्पणस्य चिकित्सयित्वा निजघान नंदः ॥१४॥

स्वामी की मूँछ को देखते हुए उसने (अपने चेहरे पर मूँछ का) वैसा ही चित्रण किया और नन्द ने जानबूझकर अपनी साँसों की हवा से दर्पण को आविल (गंदा) कर दिया ॥१४॥

सा तेन चेष्टाललितेन भर्तुःशाठ्योन चांतर्मनसा जहास।
भवेच्च रुष्टा किल नाम तस्मै ललाटजिह्मां भृकुटिं चकार ॥१५॥

स्वामी की इस लीला और शठता पर वह मन ही मन हँसी और नाम (दिखावे) के लिए उसके प्रति रुष्ट होकर उसने अपने ललाट की भौंहों को कुटिल कर लिया ॥१५॥

चिक्षेप कर्णोत्पलमस्य चांसे करेण सव्येन मदालसेन।
पत्राङ्गुलिं चार्धनिमीलिताक्षे वक्त्रेऽस्य तामेव विनिर्दुधाव ॥१६॥

मद से अलसाये हुए बाएँ हाथ से उसने नन्द के कन्धे पर अपने कान

का नीला कमल फेंका और उसके अधमुँदी आँखोंवाले मुख पर वही अङ्गराग लगाया ॥१६॥

ततश्चलन्नूपुरयोक्त्रिताभ्यां नखप्रभोद्भासितराङ्गुलिभ्यां।
पद्भ्यां प्रियाया नलिनोपमाभ्ला मूर्ध्ना भयान्नाम ननाम नन्दः ॥१७॥

तब प्रिया के कमलोपम पाँवों पर, जो चञ्चल नूपुरों से नियन्त्रित थे और जिनकी अङ्गुलियाँ नखों की प्रभा से भासित थीं, नंद ने डर के मारे अपना शिर झुकाया ॥१७॥

स मुक्तपुष्पोन्मिषितेन मूर्ध्ना ततः प्रियायाः प्रियकृद्बभासे।
सुवर्णवेद्यामनिलावभग्नः पुष्पातिभारादिव नागवृक्षः ॥१८॥

नीचे गिरे हुए फूलों से उसका मस्तक चमकने लगा, उस समय प्रिया को मनाने में लगा हुआ नंद ऐसे शोभित हुआ, जैसे सुवर्ण-वेदी पर वायु के वेग से और फूलों के भार से टूटा हुआ नाग-वृक्ष पड़ा हो ॥१८॥

सा तं स्तनोद्वर्तितहारयष्टिरुत्थापयामास निपीड्य दोर्भ्यां।
कथं कृतोऽसीति जहास चोच्चैर्मुखेन साचीकृतकुण्डलेन ॥१९॥

सुन्दरी ने नंद को अपनी भुजाओं में पकड़ लिया, जिससे उसके स्तनों पर के हार नीचे लटकने लगे, और उसे ऊपर उठा लिया। "कैसे हो गये हो" यह कहती हुई वह जोरों से हस पड़ी, जिससे उसके चेहरे पर कुण्डल झुलने लगे ॥१९॥

पत्युस्ततो दर्पणसक्तपाणेर्मुहुर्मुहुर्वक्त्रमवेक्षमाणा ॥
तमालपत्रार्द्रतले कपोले समापयामास विशेषकं तत् ॥२०॥

तब हाथ में दर्पण लिये हुए पति के मुख को बार बार देखते हुए उसने तमाल-पत्र से आर्द्र तलवाले (भींगे) कपोल पर उस विशेषक (चित्रकारी) को पूरा किया ॥२०॥

तस्या मुखं तत्सतमालपत्रं ताम्राधरौष्ठं चिकुरायताक्षं ।
रक्ताधिकाग्रं पतितद्विरेफं सशैवलं पद्ममिवाबभासे ॥२१॥

उसका वह मुख, जो तमाल-पत्र से युक्त था, जिसके होठ ताम्रवर्ण थे और जिसकी आँखें चञ्चल व लम्बी थीं, उस कमल के समान शोभित हुआ जो (क्रमशः) सेवार से युक्त हो, जिसका अग्रभाग लाल हो और जिस पर भौरे बैठे हुए हों ॥२१॥

नन्दस्ततो दर्पणमादरेण बिभ्रत्तदामण्डनसाक्षिभूतं ।
विशेषकावेक्षणकेकराक्षो लडत्प्रियाया वदनं ददर्श ॥२२॥

तब उसकी मण्डन-क्रिया (सिंगार) के साक्षी-स्वरूप उस दर्पण को सादर धारण करते हुए, विशेषक को देखने के लिए अपनी दृष्टि को तिरछी करते हुए, उसने प्रिया के सुन्दर मुख को देखा ॥२२॥

तत्कुण्डलादष्टविशेषकान्तं कारण्डवक्लिष्टमिवारविन्दं ।
नन्दः प्रियाया मुखमीक्षमाणो भूयः प्रियानंदकरो बभूव ॥२३॥

वह मुख, जिसके विशेषक के अंत (छोर) कुण्डलों से कट (मिट) रहे थे, कारण्डव पक्षी से क्लेशित हो रहे कमल के समान दिखाई पड़ा। प्रिया के मुख को देखते हुए नंद ने प्रिया को पुनः आनन्दित किया ॥२३॥

विमानकल्पे स विमानगर्भे ततस्तथा चैव ननन्द नन्दः ।
तथागतश्चागतभैक्षकालो भैक्षाय तस्य प्रविवेश वेश्म ॥२४॥

विमान- (देव-प्रासाद-) तुल्य महल में नंद उस प्रकार आनंद कर रहा था; तब भिक्षा का समय उपस्थित होने पर तथागत ने भिक्षा के लिए उसके घर में प्रवेश किया ॥२४॥

अवाङ्मुखो निष्प्रणयश्च तस्थौ भ्रातुर्गृहेऽन्यस्य गृहे यथैव।
तस्मादथो प्रेष्यजनप्रमादाद्भिक्षामलब्ध्वैव पुनर्जगाम ॥२५॥

वह अपने भाई के घर में, जैसे किसी दूसरे के घर में, मुँह नीचे किये हुए और स्नेह-रहित होकर खड़े रहे; तब नौकरों की गल्ती से वहाँ से भिक्षा पाये विना ही वह लौट गये ॥२५॥

काचित्पिपेषाङ्गविलेपनं हि वासोऽङ्गना काचिदवासयच्च।
अयोजयत्स्नानविधिं तथान्या जग्रन्थुरन्याः सुरभीः स्रजश्च ॥२६॥

क्योंकि कोई स्त्री अङ्गलेप पीस रही थी और कोई वस्त्रों को सुगन्धित कर रही थी; दूसरी स्नान-विधि का आयोजन कर रही थी और दूसरी स्त्रियाँ सुगन्धित मालाएँ गूँथ रही थीं ॥२६॥

तस्मिन् गृहे भर्तुरतश्चरन्त्यः क्रीडानुरूपं ललितं नियोगं।
काश्चिन्न बुद्धं ददृशुर्युवत्यो बुद्धस्य वैषा नियतं मनीषा ॥२७॥

उस घर में युवती स्त्रियाँ स्वामी के क्रीड़ाके अनुरूप सुन्दर कार्य करने में लगी हुई थीं, उनमें से किसी ने बुद्ध को नहीं देखा या बुद्ध की ही ऐसी इच्छा थी (या बुद्ध ने निश्चय ही ऐसा ही सोचा) ॥२७॥

काचित्स्थिता तत्र तु हर्म्यपृष्ठे गवाक्षपक्षे प्रणिधाय चक्षुः।
विनिष्पतन्तं सुगतं ददर्श पयोदगर्भादिव दीप्तमर्कं ॥२८॥

प्रासाद पर खड़ी एक स्त्री खिड़की की ओर देख रही थी। उसने बादलों के भीतर से निकलते हुए प्रज्वलित सूर्य के समान बुद्ध को वहाँ से निकलते देखा ॥२८॥

सा गौरवं तत्र विचार्य भर्तुः स्वया च भक्त्यार्हतयार्हतश्च।
नन्दस्य तस्थौ पुरतो विवक्षुस्तदाज्ञया चेति तदाचचक्षे ॥२९॥

स्वामी के गौरव का विचार कर और अपनी भक्ति तथा अर्हत् की

पूज्यता के कारण वह नंद के आगे निवेदन करने की इच्छा से खड़ी हुई और उसकी आज्ञा पाकर निवेदन किया ॥२९॥

अनुग्रहायास्य जनस्य शङ्के गुरुर्गृहं नो भगवान्प्रविष्टः ।
भिक्षामलब्ध्वा गिरमासनं वा शून्यादरण्यादिव याति भूयः ॥३०॥

"हमारे ऊपर अनुग्रह करने के लिए, मैं समझती हूँ, भगवान् बुद्ध हमारे घर में प्रविष्ट हुए थे; किंतु भिक्षा, वचन या आसन पाये बिना ही (हमारे यहाँ से) लौट रहे हैं, जैसे सूने जंगल से।" ॥३०॥

श्रुत्वा महर्षेः स गृहप्रवेशं सत्कारहीनं च पुनः प्रयाणं ।
चचाल चित्राभरणाम्बरस्रक्कल्पद्रुमो धूत इवानिलेन ॥३१॥

महर्षि ने घर में प्रवेश किया था और सत्कार के बिना ही लौट गये, यह सुनकर वायु से कँपाये गये कल्प-वृक्ष के समान चित्रविचित्र आभूषण वस्त्र और मालाएँ धारण करने वाला नंद काँपने लगा ॥३१॥

कृत्वाञ्जलिं मूर्धनि पद्मकल्पं ततः स कान्तां गमनं ययाचे ।
कर्तुं गमिष्यामि गुरौ प्रणामं मामभ्यनुज्ञातुमिहार्हसीति ॥३२॥

तब मस्तक पर पद्म-तुल्य अञ्जलि बाँधकर उसने प्रिया से जाने की आज्ञा माँगी—"गुरु को प्रणाम करने के लिए जाऊँगा, इस विषय में तुम्हें मुझे आज्ञा देनी चाहिए।" ॥३२॥

सा वेपमाना परिसस्वजे तं शालं लता वातसमीरितेव ।
ददर्श चाश्रुप्लुतलोलनेत्रा दीर्घं च निश्वस्य वचोऽभ्युवाच ॥३३॥

(यह सुनकर) वह काँपने लगी और उसका आलिङ्गन किया, जैसे हवा से हिलाई गई लता शालवृक्ष का आलिङ्गन कर रही हो। अश्रु-प्लावित चञ्चल आँखों से उसे देखकर लम्बी साँस लेती हुई वह बोली:—॥३३॥

नाहं यियासोर्गुरुदर्शनार्थमर्हामि कर्तुं तव धर्मपीडां।
गच्छार्यपुत्रैहि च शीघ्रमेव विशेषको यावदयं न शुष्कः ॥३४॥

"आप गुरु के दर्शनार्थ जाना चाहते हैं, मैं आप के धर्म में बाधा नहीं डाल सकती; हे आर्यपुत्र, जाओ और शीघ्र ही लौट आओ, ताकि यह विशेषक सूखने न पाये ॥३४॥

सचेद्भवेस्त्वं खलु दीर्घसूत्रो दण्डं महान्तं त्वयि पातयेयं।
मुहुर्मुहुस्त्वां शयितं कुचाभ्यां विबोधयेयं च न चालपेयं ॥३५॥

यदि तुम देर करोगे तो तुम्हें भारी दण्ड दूँगी, जब तुम सोये रहोगे तब अपने कठोर कुचों (के प्रहार) से तुम्हें बार बार जगाऊँगी और बोलूँगी नहीं ॥३५॥

अथाप्यनाश्यानविशेषकायां मय्येष्यसि त्वं त्वरितं ततस्त्वां।
निपीडयिष्यामि भुजद्वयेन निर्भूषणेनार्द्रविलेपनेन ॥३६॥

यदि मेरे विशेषक के सूखने से पहले ही तुम शीघ्र आ जाओगे, तो आभूषण-रहित और गीला लेपवाली दोनों भुजाओं से तुम्हें आलिङ्गन करूँगी" ॥३६॥

इत्येवमुक्तश्च निपीडितश्च तयासवर्णस्वनया जगाद।
एवं करिष्यामि विमुञ्च चण्डि यावद्गुरुर्दूरगतो न मे सः ॥३७॥

काँपती वाणी में उसके द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर और आलिङ्गन किये जाने पर नन्द ने कहा—"ऐसा ही करूँगा, हे चण्डि, छोड़ो, मेरे वह गुरु दूर न चले जायँ।" ॥३७॥

ततः स्तनोद्वर्तितचन्दनाभ्यां मुक्तो भुजाभ्यां न तु मानसेन।
विहाय वेषं मदनानुरूपं सत्कारयोग्यं स वपुर्बभार ॥३८॥

तब स्तनों (की रगड़) से जिनका चन्दन खिसक (मिट) गया था

उन बाहुओं (के बन्धन) से, न कि चित्त से, मुक्त होकर
अनुरूप वेष को छोड़ सत्कार के अनुरूप वेष धारण किया

सा त प्रयान्तं रमणं प्रदध्यौ प्रध्यानशून्यस्थितनि
स्थितोन्नकर्णा व्यपविद्धशष्पा भ्रान्तं मृगं भ्रान्तमुखी

चिन्ता के कारण उदास और निश्चल आँखों से वह जाते हुए प्रियतम को ध्यानपूर्वक देखती रही, जैसे दूर प्रति मुख घुमाये हुए मृगी कान खड़ाकर और (मु गिराकर उसे देखती रहती है ॥ ३९ ॥

दिदृक्षयाक्षिप्तमना मुनेस्तु नन्दः प्रयाणं प्रति
विवृत्तदृष्टिश्च शनैर्ययौ तां करीव पश्यन् स लडत

मुनि को देखने की इच्छा से उत्कण्ठितचित्त होकर शीघ्रता की और जब सुन्दरी की ओर दृष्टि घुमाई तो धी जैसे विलासिनी हथिनी को देखता हुआ हाथी धीरे धीरे

छातोदरीं पीनपयोधरोरुं स सुन्दरीं रुक्म
कान्दरणा पश्यन्न ततर्प नन्दः पिबन्निवैकेन जलं

पहाड़ की काञ्चन-गुफा के समान क्षीण उदर वाली और मोटी जाँघ वाली सुन्दरी को अपनी आँख के हुआ नन्द तृप्त नहीं हुआ, जैसे एक हाथ से पानी पं होता है ॥४१॥

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तुरंस्तरङ्गेष्विव र

बुद्ध की भक्ति ने उसे (आगे की ओर) खींचा, फिर

खींचा । अनिश्चय के कारण वह न आगे ही गया और
जैसे तरंगों पर चलनेवाला राजहंस न आगे ही बढ़ता है
रहता है ॥ ४२ ॥

गतश्च तस्या हर्म्यात्ततश्चावततार तूर्णं ।
पुरनिस्वनं स पुनर्ललम्बे हृदये गृहीतः ॥४३॥

दृष्टि से ओझल होकर वह महल से शीघ्र ही उतर गया,
शब्द सुनकर वह हृदय में गृहीत होकर ठहर गया

निगृह्यमाणो धर्मानुरागेण च कृष्यमाणः ।
वर्त्यमानः प्लवः प्रतिस्रोत इवापगायाः॥४४॥

सक्ति से बाँधा जाता हुआ और धर्म के अनुराग से
जाता हुआ, नदी की प्रतिकूल धारा में (चलती) नाव
र बार) मुड़ता हुआ, वह कष्टपूर्वक (आगे)

ः प्रचक्रमे कथं नु याता न गुरुर्भवेदिति ।
विशेषकप्रियां कथं प्रियामार्द्रविशेषकामिति ॥४५॥

चले जायँ और (शीघ्र ही लौटकर) उस विशेषक-प्रिय
प्रिया का आलिङ्गन करूँ" ऐसा सोचकर वह तब
से (लपककर) जाने लगा ॥ ४५ ॥

दर्श मुत्तमानं पितृनगरेऽपि तथागताभिमानं ।
विलम्बमानं ध्वजमनुयान इवैन्द्रमर्च्यमानं ॥४६॥

हाकाव्ये भार्यायाचितको नाम चतुर्थः सर्गः ।

तब उसने मार्ग में दशबलधारी (बुद्ध) को देखा, जो पितृ-नगर में भी सम्मान और अभिमान से रहित थे। वह (बुद्ध) ठहर ठहर कर चारों ओर (जनता से) पूजित होते हुए (जा रहे थे), जैसे कि जुलूस में इंद्र की ध्वजा ॥ ४६ ॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य का 'पत्नी की अनुमति'
नामक चतुर्थ सर्ग समाप्त

पञ्चम सर्ग

नन्द की दीक्षा

अथावतीर्याश्वरथद्विपेभ्यः शाक्या यथास्वर्द्धि गृहीतवेषाः ।
महापणेभ्यो व्यवहारिणश्च महामुनौ भक्तिवशात्प्रणेमुः ॥१॥

तब घोड़ों रथों और हाथियों से उतर कर शाक्यों ने, जिन्होंने अपनी अपनी सम्पत्ति के अनुसार वेष धारण किया था, तथा बड़ी बड़ी दूकानों से दूकानदारों (व्यापारियों) ने महामुनि को भक्तिपूर्वक प्रणाम किया ॥ १ ॥

केचित्प्रणम्यानुययुर्मुहूर्तं केचित्प्रणम्यार्थवशेन जग्मुः ।
केचित्स्वकेष्वावसथेषु तस्थुः कृत्वाञ्जलीन्वीक्षणतत्पराक्षाः ॥२॥

कुछ लोग प्रणाम करके एक मुहूर्त तक उनके पीछे पीछे गये, कुछ लोग प्रणाम करके कार्यवश (वहाँ से) चले गये, और कुछ लोग हाथ जोड़ कर उन्हीं की ओर देखते हुए अपने घरों में खड़े रहे ॥ २ ॥

बुद्धस्ततस्तत्र नरेन्द्रमार्गे स्रोतो महद्भक्तिमतो जनस्य ।
जगाम दुःखेन विगाहमानो जलागमे स्रोत इवापगायाः ॥३॥

तब बुद्ध उस राज-मार्ग पर भक्त जनता की बड़ी भीड़ को चीरते हुए, मानो वर्षा के आने पर नदी की धारा में प्रवेश करते हुए, कठिनाई से गये ॥ ३ ॥

अथो महद्भिः पथि संपतद्भिः संपूज्यमानाय तथागताय ।
कर्तुं प्रणामं न शशाक नन्दस्तेनाभिरेमे तु गुरोर्महिम्ना ॥४॥

तब नन्द झुण्ड के झुण्ड आते हुए बड़े बड़े लोगोंसे रास्ते में पूजित

होते बुद्ध को प्रणाम न कर सका, किन्तु गुरु की इस महिमा से उसे आनन्द ही हुआ ॥ ४ ॥

स्वं चावसङ्गं पथि निर्मुमुक्षुर्भक्तिं जनस्यान्यमतेश्च रक्षन् ।
नन्दं च गेहाभिमुखं जिघृक्षन्मार्गं ततोऽन्यं सुगतः प्रपेदे ॥५॥

अपने साथ के लोगों से मुक्त होने की इच्छा से और दूसरे मत के लोगों की भक्ति की रक्षा करते हुए तथा गृहोन्मुख नन्द को पकड़ने की इच्छा से सुगत ने दूसरा रास्ता लिया ॥ ५ ॥

ततो विविक्तं च विविक्तचेताः सन्मार्गविन्मार्गमभिप्रतस्थे ।
गत्वाग्रतश्चाग्र्यतमाय तस्मै नान्दीविमुक्ताय ननाम नन्दः ॥६॥

तब सन्मार्ग को जानने वाले शान्तचित्त मुनि एकान्त मार्ग पर आये और आगे से जाकर उन श्रेष्ठ मुनि को, जो आनंद से रहित थे, नंद ने प्रणाम किया ॥ ६ ॥

शनैर्व्रजन्नेव स गौरवेण पटावृतांसो विनतार्धकायः ।
अधोनिबद्धाञ्जलिरूर्ध्वनेत्रः सगद्गदं वाक्यमिदं बभाषे ॥७॥

सम्मानपूर्वक धीरे धीरे जाते हुए नंद ने, जिसका कंधा कपड़े से ढका हुआ था, आधा शरीर झुका कर नीचे की ओर हाथ जोड़कर और ऊपर की ओर नेत्र उठाकर गद्गद स्वर से यह वाक्य कहा :— ॥ ७ ॥

प्रासादसंस्थो भगवन्तमन्तः प्रविष्टमश्रौषमनुग्रहाय ।
अतस्त्वरावानहमभ्युपेतो गृहस्य कक्ष्यामहतोऽभ्यसूयन् ॥८॥

जब मैं अपने महल में था तब मैंने सुना कि भगवान् हमारे ऊपर अनुग्रह करने के लिए हमारे घरमें प्रविष्ट हुए थे, इसलिए अपने बड़े घर के (नौकरों के) प्रति रोष करता हुआ मैं शीघ्रता से आपके समीप आया हूँ ॥ ८ ॥

तत्साधु साधुप्रिय मत्प्रियार्थं तत्रास्तु भिक्षूत्तम भैक्षकालः ।
असौ हि मध्यं नभसो यियासुः कालं प्रतिस्मारयतीव सूर्यः ॥९॥

इसलिये हे साधुप्रिय, हे भिक्षु-श्रेष्ठ, मेरा प्रिय करने के लिए आपका भिक्षा-काल वहीं (मेरे घर) पर व्यतीत हो, आकाश के मध्य भागमें जाने की इच्छा करने वाला वह सूर्य मानो (भिक्षा-) काल का स्मरण करा रहा है ॥ ९ ॥

इत्येवमुक्तः प्रणतेन तेन स्नेहाभिमानोन्मुखलोचनेन ।
ताहङ्निमित्तं सुगतश्चकार नाहारकृत्यं स यथा विवेद ॥१०॥

जब उसने नम्रतापूर्वक स्नेह और सम्मान के साथ आँखों को ऊपर उठाकर इस प्रकार कहा, तब सुगत ने ऐसा सङ्केत किया जिससे उसने समझा कि (उन्हें) भोजन नहीं करना है ॥ १० ॥

ततः स कृत्वा मुनये प्रणामं गृहप्रयाणाय मतिं चकार ।
अनुग्रहार्थं सुगतस्तु तस्मै पात्रं ददौ पुष्करपत्रनेत्रः ॥११॥

तब उसने मुनिको प्रणाम कर घर (लौट) जाने का विचार किया, किंतु कमल के पत्तों के समान आँखों वाले सुगत ने अनुग्रह करने के लिये उसे अपना (भिक्षा-) पात्र दिया ॥ ११ ॥

ततः स लोके ददतः फलार्थं पात्रस्य तस्याप्रतिमस्य पात्रं ।
जग्राह चापग्रहणक्षमाभ्यां पद्मोपमाभ्यां प्रयतः कराभ्यां ॥१२॥

तब संसार में फल प्राप्त करने के लिये (पात्र) देने वाले उन अद्वितीय पात्र (बुद्ध) के पात्र को उसने अपने कमलोपम हाथों से, जो धनुष ग्रहण करने योग्य थे, संयमपूर्वक ग्रहण किया ॥ १२ ॥

९—बौद्ध भिक्षु मध्याह्न-काल बीतने के पहले ही भिक्षा माँग कर अपना भोजन कर लेते हैं ।

पराङ्मुखन्त्वन्यमनस्कमाराद्विज्ञाय नन्दः सुगतं गतास्थं ।
हस्तस्थपात्रोऽपि गृहं यियासुः ससार मार्गान्मुनिमीक्षमाणः ॥१३॥

सुगत को अन्यमनस्क अपने से विमुख तथा उदास जानकर, नंद हाथ में पात्र रहने पर भी घर जाने की इच्छा से मुनि को देखता हुआ मार्ग से हटने लगा ॥ १३ ॥

भार्यानुरागेण यदा गृहं स पात्रं गृहीत्वापि यियासुरेव ।
विमोहयामास मुनिस्ततस्तं रथ्यामुखस्यावरणेन तस्य ॥१४॥

प्रिया के अनुराग के कारण जब वह पात्र लेकर भी घर जाने की इच्छा करने लगा, तब मुनि ने उसके मार्ग के मुख (मार्ग-द्वार, मार्ग-प्रवेश) को ढक कर उसे मोह में डाल दिया ॥ १४ ॥

निर्मोक्षबीजं हि ददर्श तस्य ज्ञानं मृदु क्लेशरजश्च तीव्रं ।
क्लेशानुकूलं विषयात्मकं च नन्दं यतस्तं मुनिराचकर्ष ॥१५॥

उसका ज्ञान मन्द है, क्लेशरूपी रज तीव्र है, वह क्लेशों (दोषों) के अनुकूल है और विषयासक्त है, किंतु उसमें मोक्ष का बीज वर्तमान है— यह देख कर ही मुनिने उसे आकृष्ट किया ॥ १५ ॥

संक्लेशपक्षो द्विविधश्च दृष्टस्तथा द्विकल्पो व्यवदानपक्षः ।
आत्माश्रयो हेतुबलाधिकस्य बाह्याश्रयः प्रत्ययगौरवस्य ॥१६॥

क्लेश (दोष) दो प्रकार के देखे जाते हैं, उसी प्रकार शुद्धता (पवित्रता) भी दो प्रकार की है; जिसमें हेतु-बल (कुशल-मूल) को अधिकता है वह अपने पर ही आश्रित होता है और जिसके लिए बाहरी

१३—पा० 'पराङ्मुखस्०'

वस्तुओं (या सहारे) का महत्व अधिक है वह दूसरे पर आश्रित है ॥ १६ ॥

अयत्नतो हेतुबलाधिकस्तु निर्मुच्यते घट्टितमात्र एव ।
यत्नेन तु प्रत्ययनेयबुद्धिर्विमोक्षमाप्नोति पराश्रयेण ॥१७॥

जिसमें हेतु-बल की अधिकता है वह प्रेरित होते ही अनायास ही मुक्त हो जाता है, किंतु जिसकी बुद्धि बाहरी सहारे पर चलती है वह दूसरे के आश्रय से कठिनाई से मुक्ति प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

नन्दः स च प्रत्ययनेयचेता यं शिश्रिये तन्मयतामवाप ।
यस्मादिमं तत्र चकार यत्नं तं स्नेहपङ्कान्मुनिरुज्जिहीर्षन् ॥१८॥

नन्द का चित्त बाहरी सहारे पर चलता था, वह जिस किसी का आश्रय लेता था. उसी में तन्मय हो जाता था, इसलिए उसे स्नेहरूपी पङ्क से उबारने के लिए मुनि ने यह यत्न किया ॥ १८ ॥

नंदस्तु दुःखेन विचेष्टमानः शनैरगत्या गुरुमन्वगच्छत् ।
भार्यामुखं वीक्षणलोलनेत्रं विचिन्तयन्नार्द्रविशेषकं तत् ॥१९॥

दुःख से छटपटाता हुआ नन्द लाचार होकर धीरे धीरे गुरु के पीछे पीछे गया और (महलमें उसकी) प्रतीक्षा में चञ्चल आँखों वाले तथा गीले विशेषक वाले पत्नी-मुख का ध्यान करता रहा ॥ १९ ॥

ततो मुनिस्तं प्रियमाल्यहारं वसन्तमासेन कृताभिहारं ।
निनाय भग्नप्रमदाविहारं विद्याविहाराभिमतं विहारं ॥२०॥

तब मुनि मालाओं और हारों को चाहने वाले नन्द को, जिसपर

१६-१७—हेतु- बल के लिए देखिये बु० च० दो ५६ ।
कुशल-मूल = राग द्वेष और मोह का अभाव
= अराग, अद्वेष और अमोह ।

वसन्त ऋतु ने आक्रमण किया था और जिसका प्रमदा के साथ विहार करना नष्ट हो गया था, उस विहार (मठ) में ले गये जो विद्या में विहार करने वाले (ज्ञानियों) का प्यारा है ॥ २० ॥

दीनं महाकारुणिकस्ततस्तं दृष्ट्वा मुहूर्तं करुणायमानः।
करेण चक्राङ्कतलेन मूर्ध्नि पस्पर्श चैवेदमुवाच चैनं ॥२१॥

तब उस दुःखी की ओर मुहूर्त भर देखकर महाकारुणिक ने करुणा करते हुए चक्र के चिह्न से युक्त हथेली वाले हाथ से उसके मस्तक पर स्पर्श किया और उसे यह वचन कहा :— ॥ २१ ॥

यावन्न हिंस्रः समुपैति कालः शमाय तावत्कुरु सौम्य बुद्धिं।
सर्वास्ववस्थास्विह वर्तमानं सर्वाभिसारेण निहन्ति मृत्युः ॥२२॥

" हे सौम्य, जबतक घातक काल समीप नहीं आता है तब तक बुद्धि को शान्ति में लगाओ; (क्योंकि) मृत्यु इस संसार में सब अवस्थाओं में रहनेवाले की सब प्रकार से हत्या करती है ॥ २२ ॥

साधारणात्स्वप्ननिभादसाराल्लोलं मनः कामसुखान्नियच्छ।
हव्यैरिवाग्नेः पवनेरितस्य लोकस्य कामैर्न हि तृप्तिरस्ति ॥२३॥

स्वप्न के समान असार तथा (सर्व-) साधारण (सब के द्वारा उपभोग्य) काम-सुख से अपने चञ्चल मन को रोको; क्योंकि जैसे वायु-प्रेरित अग्नि की (घृत आदि) हव्य-द्रव्यों से तृप्ति नहीं होत, वैसे ही संसार को कामोपभोगों से तृप्ति नहीं है ॥ २३ ॥

श्रद्धाधनं श्रेष्ठतमं धनेभ्यः प्रज्ञारसस्तृप्तिकरो रसेभ्यः।
प्रधानमध्यात्मसुखं सुखेभ्योऽविद्यारतिर्दुःखतमारतिभ्यः ॥२४॥

धनों में श्रद्धारूपी धन श्रेष्ठ है, रसों में प्रज्ञारूपी रस तृप्ति-कर है,

---

२२—पा० 'वर्तमानः'।

सुखों में अध्यात्म-सुख प्रधान है, और दुःखों में अज्ञान-दुःख अत्यत दुःखदायी है ॥ २४ ॥

हितस्य वक्ता प्रवरः सुहृद्भ्यो धर्माय खेदो गुणवान् श्रमेभ्यः ।
ज्ञानाय कृत्यं परमं क्रियाभ्यः किमिन्द्रियाणामुपगम्य दास्यं ॥२५॥

हित (की बात) कहने वाला (मित्र) मित्रों में श्रेष्ठ है, धर्म के लिए किया जानेवाला परिश्रम परिश्रमों में उत्कृष्ट है, ज्ञान के लिए किया जानेवाला कार्य कार्यों में उत्तम है, इन्द्रियों का दास होने से क्या लाभ ? ॥ २५ ॥

तन्निश्चित भीक्लमशुग्वियुक्तं परेष्वनायत्तमहार्यमन्यैः ।
नित्यं शिवं शान्तिसुखं वृणीष्व किमिन्द्रियार्थार्थमनर्थमूढ्वा ॥२६॥

इसलिये निश्चित नित्य और कल्याण-कारी शान्ति-सुख का वरण करो, जो भय थकावट और शोक-रहित है, जो दूसरों के अधीन नहीं है और जो दूसरों द्वारा नहीं छीना जा सकता; विषयों के लिए विपत्ति उठाने से क्या लाभ ? ॥ २६ ॥

जरासमा नास्त्यमृजा प्रजानां व्याधेः समो नास्ति जगत्यनर्थः ।
मृत्योः समं नास्ति भयं पृथिव्यामेतत्त्रयं खल्ववशेन सेव्यं ॥२७॥

प्राणियों के लिए बुढ़ापे के समान (रूप-विनाशक) और कोई गन्दगी नहीं है, संसार में रोग के समान और कोई अनर्थ नहीं है तथा पृथ्वी पर मृत्यु के समान कोई भय नहीं है; इन तीनों को लाचार होकर भोगना ही पड़ता है ॥ २७ ॥

स्नेहेन कश्चिन्न समोऽस्ति पाशः स्रोतो न तृष्णासममस्ति हारि ।
रागाग्निना नास्ति समस्तथाग्निस्तच्चेत्त्रयं नास्ति सुखं च तेऽस्ति॥२८॥

स्नेह के समान कोई बन्धन नहीं है, तृष्णा के समान बहाले जाने-

वाली कोई धारा नहीं है और राग की अग्नि के समान कोई अग्नि नहीं है, इसलिए यदि ये तीन नहीं हैं तो तुम्हें सुख है ॥ २८ ॥

अवश्यभावी प्रियविप्रयोगस्तस्माच्च शोको नियतं निषेव्यः ।
शोकेन चोन्मादमुपेयिवांसो राजर्षयोऽन्येऽप्यवशा विचेलुः ॥२६॥

प्रिय का वियोग अवश्यंभावी है इसलिए शोक सहना (भोगना) ही पड़ेगा । शोक से उन्मत्त होकर राजर्षिगण तथा दूसरे भी विवश होकर विचलित हुए ॥ २९ ॥

प्रज्ञामयं वर्म बधान तस्मान्नो क्षान्तिनिघ्नस्य हि शोकबाणाः ।
महच्च दग्धुं भवकक्षजालं संधुक्षयाल्पाग्निमिवात्मतेजः ॥३०॥

इसलिए प्रज्ञा रूपी कवच पहन लो, क्योंकि जो धैर्य के अधीन है उसपर शोकरूपी तीरों का वश नहीं चलता । महा-भव-जाल को जलाने के लिए अपने तेज को प्रदीप्त करो, जैसे महान् तृण-राशि को जलाने के लिए थोड़ी सी आग को (प्रयत्नपूर्वक) प्रज्वलित किया जाता है ॥ ३० ॥

यथौषधैर्हस्तगतैः सविद्यो न दश्यते कश्चन पन्नगेन।
तथानपेक्षो जितलोकमोहो न दश्यते शोकभुजंगमेन ॥३१॥

जिस प्रकार हाथ में ओषधियों के रहने पर कोई भी (सर्प -) विद्या जानने वाला सर्प द्वारा नहीं डसा जाता है, उसी प्रकार निरपेक्ष व्यक्ति, जिसने संसार के मोह को जीत लिया है, शोकरूपी सर्प द्वारा नहीं डसा जाता है ॥ ३१ ॥

आस्थाय योगं परिगम्य तत्त्वं न त्रासमागच्छति मृत्युकाले ।
आबद्धवर्मा सुधनुः कृतास्त्रो जिगीषया शूर इवाहवस्थः ॥३२॥

योगाभ्यास द्वारा तत्त्व को जानकर मनुष्य मृत्यु-काल में संत्रस्त नहीं

होता है, जैसे कवच पहनकर सुन्दर धनुष और अस्त्र लेकर विजयेच्छु वीर पुरुष युद्ध में उतरकर भयभीत नहीं होता है" ॥३२॥

इत्येवमुक्तः स तथागतेन सर्वेषु भूतेष्वनुकम्पकेन ।
धृष्टं गिरान्तर्हृदयेन सीदंस्तथेति नन्दः सुगतं बभाषे ॥३३॥

सब जीवों पर दया करनेवाले तथागत द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर दुःखी हृदय से किंतु उत्साहपूर्ण वाणी से नन्द ने सुगत को कहा "अच्छा" ॥ ३३ ॥

अथ प्रमादाच्च तमुज्जिहीर्षन्मत्वागमस्यैव च पात्रभूतं ।
प्रव्राजयानन्द शमाय नन्दमित्यब्रवीन्मैत्रमना महर्षिः ॥३४॥

तब प्रमाद (अविवेक, अज्ञान) से उसका उद्धार करने की इच्छा से और उसको धर्म का पात्र हुआ जान कर महर्षि ने मैत्रीपूर्ण चित्त से कहा—"आनन्द, नन्द को उसकी शान्ति के लिए प्रव्रजित करो" ॥ ३४ ॥

नन्दं ततोऽन्तर्मनसा रुदन्तमेहीति वैदेहमुनिर्जगाद ।
शनैस्ततस्तं समुपेत्य नन्दो न प्रव्रजिष्याम्यहमित्युवाच ॥३५॥

तब मन ही मन रोते हुए नन्द को वैदेह मुनि (आनन्द) ने कहा—"आओ"। तब शनैः शनैः उसके समीप जाकर नन्द ने कहा—"मैं प्रव्रजित न होऊँगा" ॥ ३५ ॥

श्रुत्वाथ नन्दस्य मनीषितं तद्बुद्धाय वैदेहमुनिः शशंस ।
संश्रुत्य तस्मादपि तस्य भावं महामुनिर्नन्दमुवाच भूयः ॥३६॥

तब नंद का वह अभिप्राय सुनकर वैदेह मुनि ने बुद्ध से कहा। उससे भी नंद का (वह) भाव सुनकर महामुनि ने पुनः नंद को कहाः— ॥ ३६ ॥

मय्यग्रजे प्रव्रजितेऽजितात्मन् भ्रातृष्वनुप्रव्रजितेषु चास्मान्।
ज्ञातींश्च दृष्ट्वा व्रतिनो गृहस्थान् संविन्नकिंतेऽस्ति न वास्ति चेतः ॥३७॥

"हे असंयतात्मा, मुझ अग्रज के प्रव्रजित होने पर, हमारे पीछे अपने भाइयों के प्रव्रजित होने पर तथा अपने जाति बन्धुओं को घर में ही रहकर व्रत पालन करते देख कर क्या तुम्हें ज्ञान (का उदय) ही नहीं होता है या तुम्हें चित्त ही नहीं है? ॥ ३७ ॥

राजर्षयस्ते विदिता न नूनं वनानि ये शिश्रियिरे हसन्तः।
निष्ठीव्य कामानुपशान्तिकामाः कामेषु नैवं कृपणेषु सक्ताः ॥३८॥

अवश्य ही तुम उन राजर्षियों को नहीं जानते हो, जिन्होंने हँसते हँसते वन का आश्रय लिया। उन्होंने शान्ति पाने की इच्छासे कामोपभोगों का तिरस्कार किया, वे कामोपभोगों में इस प्रकार आसक्त नहीं थे ॥ ३८ ॥

भूयः समालोक्य गृहेषु दोषान्निशाम्य तत्त्यागकृतं च शमं।
नैवास्ति मोक्तुं मतिरालयं ते देशं मुमूर्षोरिव सोपसर्गं ॥३९॥

फिर घर के दोषों तथा उसके त्याग से होनेवाली शांति को देखकर तुम घर छोड़ने का विचार नहीं करते हो, जैसे कि मृत्यु की इच्छा करनेवाला (मरणासन्न) व्यक्ति उपद्रव-युक्त स्थान को नहीं छोड़ना चाहता है ॥ ३९ ॥

संसारकान्तारपरायणस्य शिवे कथं ते पथि नारुरुक्षा।
आरोप्यमाणस्य तमेव मार्गं भ्रष्टस्य सार्थादिव सार्थिकस्य ॥४०॥

संसाररूपी बीहड़ वन में लीन होकर तुम, काफिले से भटके हुए

३७ - पा० 'संविन्नचित्तेऽस्ति'।

बनिये के समान, कल्याण-कारी मार्ग पर चढ़ाया जाने पर भी क्यों नहीं चढ़ना चाहते हो ? ॥ ४० ॥

यः सर्वतो वेश्मनि दह्यमाने शयीत मोहान्न ततो व्यपेयात्।
कालाग्निना व्याधिजराशिखेन लोके प्रदीप्ते स भवेत्प्रमत्तः ॥४१॥

जो चारों ओर जलते हुए घर में मोहवश सोये और उससे नहीं भागे वही मनुष्य रोग और जरारूपी लपटोंवाली कालाग्नि से प्रज्वलित संसार में असावधान रहेगा ॥ ४१ ॥

प्रणीयमानश्च यथा वधाय मत्तो हसेच्च प्रलपेच्च वध्यः।
मृत्यौ तथा तिष्ठति पाशहस्ते शोच्यः प्रमाद्यन्विपरीतचेताः ॥४२॥

जिस प्रकार बध के लिए (वध्य-भूमि की ओर) लिवाया जाता हुआ वध्य व्यक्ति मत्त (नशे में चूर) होकर हँसता और प्रलाप करता है उसी प्रकार हाथ में पाश लेकर मृत्यु के वर्तमान रहते प्रमाद (असावधानी) करने वाला आदमी शोक करने योग्य है ॥ ४२ ॥

यदा नरेन्द्राश्च कुटुम्बिनश्च विहाय बन्धूंश्च परिग्रहांश्च।
ययुश्च यास्यन्ति च यान्ति चैव प्रियेष्वनित्येषु कुतोऽनुरोधः ॥४३॥

जब कि राजा लोग और परिवार वाले अपने बन्धुओं और परिग्रहों को छोड़कर चले गये चले जायँगे और चले जा रहे हैं तब क्यों अनित्य प्रिय वस्तुओं में अनुराग (आसक्ति) किया जाय ? ॥ ४३ ॥

किंचिन्न पश्यामि रतस्य यत्र तदन्यभावेन भवेन्न दुःखं।
तस्मात्क्वचिन्न क्षमते प्रसक्तिर्यदि क्षमस्तद्विगमान्न शोकः ॥४४॥

मै ऐसा कुछ नहीं देख रहा हूँ जिसमें आसक्त होनेवाले को उस

४३—'अनुरोध' के लिये देखिये बु० च० नौ ३ ६ ।

(चीज) के अन्यथा होने पर दुःख न हो। इसलिए किसी में भी आसक्त होना उचित नहीं; यदि उचित होता तो उसका वियोग होने से शोक नहीं होता ॥ ४४ ॥

तत्सौम्य लोलं परिगम्य लोकं मायोपमं चित्रमिवेन्द्रजालं।
प्रियाभिधानं त्यज मोहजालं छेत्तुं मतिस्ते यदि दुःखजालं ॥४५॥

इसलिए, हे सौम्य, संसार को अस्थिर, माया के समान, और इन्द्रजाल के समान विचित्र जानकर यदि तुम्हारा विचार दुःख-जाल को काटने का है तो प्रिया नामक मोह-जाल का परित्याग करो ॥ ४५ ॥

वरं हितोदर्कमनिष्टमन्नं न स्वादु यत्स्यादहितानुबद्धं ।
यस्मादहं त्वा विनियोजयामि शिवे शुचौ वर्त्मनि विप्रियेऽपि ॥४६॥

हितकारी भोजन अप्रिय (होने पर भी) अच्छा है न कि स्वादिष्ट भोजन जो कि अहितकारी है। इसीलिए मैं तुम्हें मङ्गलमय पवित्र मार्ग में अप्रिय होने पर भी, लगा रहा हूँ ॥ ४६ ॥

बालस्य धात्री विनिगृह्य लोष्टं यथोद्धरत्यास्यपुटप्रविष्टं ।
तथोज्जिहीर्षुः खलु रागशल्यं तत्त्वामवोचं परुषं हिताय ॥४७॥

जिस प्रकार धाई बालक को पकड़ कर उसके मुख में घुसे हुए ढेले को बाहर निकालती है, उसी प्रकार (तुम्हारे हृदय में गड़े हुए) रागरूपी शल्य को निकालने की इच्छा से मैंने यह कठोर वचन तुम्हारे हित के लिए कहा ॥ ४७ ॥

अनिष्टमप्यौषधमातुराय ददाति वैद्यश्च यथा निगृह्य ।
तद्वन्मयोक्तं प्रतिकूलमेतत्तुभ्यं हितोदर्कमनुग्रहाय ॥४८॥

जिस प्रकार वैद्य रोगी को पकड़कर अप्रिय (कटु) ओषधि भी देता

है उसीप्रकार मैंने यह अप्रिय किंतु हितकारी वचन तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करके कहा है ॥ ४८ ॥

तद्यावदेव क्षणसंनिपातो न मृत्युरागच्छति यावदेव ।
यावद्वयो योगविधौ समर्थं बुद्धिं कुरु श्रेयसि तावदेव ॥४९॥

इसलिए जब तक कि (कुछ ही क्षणों का) यह जीवन रहता है, जब तक कि मृत्यु (समीप) नहीं आती है, जब तक कि उम्र (शरीर) योगाभ्यास करने में समर्थ है तब तक अपनी बुद्धि को श्रेय में लगाओ" ॥ ४९ ॥

इत्येवमुक्तः स विनायकेन हितैषिणा कारुणिकेन नन्दः ।
कर्तास्मि सर्वं भगवन्वचस्ते तथा यथाज्ञापयसीत्युवाच ॥५०॥

हितैषी और कारुणिक विनायक (बुद्ध) के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर नन्द ने कहा – 'आपके आज्ञानुसार मैं आपके वचन का पूरा पूरा पालन करूँगा" ॥ ५० ॥

आदाय वैदेहमुनिस्ततस्तं निनाय संश्लिष्य विचेष्टमानं ।
व्ययोजयच्चाश्रुपरिप्लुताक्षं केशश्रियं छत्रनिभस्य मूर्ध्नः ॥५१॥

तब वैदेह मुनि उस छटपटाते हुए (अनिच्छुक) को वहाँ से ले गये और उस रोते हुए (अश्रु-प्लावित आँखोंवाले) के छत्र-तुल्य मस्तक की केश-शोभा को अलग किया ॥ ५१ ॥

अथो नतं तस्य मुखं सबाष्पं प्रवास्यमानेषु शिरोरुहेषु ।
वक्राग्रनालं नलिनं तडागे वर्षोदकक्लिन्नमिवाबभासे ॥५२॥

केशों के काटे जाते समय उसका झुका हुआ अश्रु-पूर्ण मुख ऐसे

५२—पा० 'अधोधृतं' ।

शोभित हुआ जैसे पोखर में वर्षा के जल से भींगा हुआ कमल जिसके नाल का अग्र-भाग झुक गया हो ॥ ५२ ॥

नन्दस्ततस्तरुकषायविरक्तवासा—
श्चिन्तावशो नवगृहीत इव द्विपेन्द्रः।
पूर्णः शशी बहुलपक्षगतः क्षपान्ते
बालातपेन परिषिक्त इवाबभासे ५३॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये नन्दप्रव्राजनो नाम पञ्चमः सर्गः।

तब विरक्तों (भिक्षुओं) का काषाय वस्त्र पहनकर नन्द हाल में ही पकड़े गये गजेन्द्र के समान चिन्ता के वशीभूत हो गया और ऐसे शोभित हुआ जसे कृष्ण-पक्ष में गया हुआ पूर्ण चन्द्रमा जो कि रात्रि के अन्त में बाल सूर्य की किरणों से सिक्त हो रहा हो ॥ ५३ ॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "नन्द की दीक्षा"
नामक पञ्चम सर्ग समाप्त।

षष्ठ सर्ग

भार्या-विलाप

ततो हृते भर्तरि गौरवेण प्रीतौ हृतायामरतौ कृतायां।
तत्रैव हर्म्योपरि वर्तमाना न सुन्दरी सैव तदा बभासे ॥१॥

तब बुद्ध की भक्ति द्वारा पति का अपहरण होने पर, प्रसन्नता के नष्ट होने पर और बेचैनी के उत्पन्न होने पर उसी महल पर रहती हुई वही सुन्दरी शोभित नहीं हुई ॥ १ ॥

सा भर्तुरभ्यागमनप्रतीक्षा गवाक्षमाक्रम्य पयोधराभ्यां।
द्वारोन्मुखी हर्म्यतलाल्ललम्बे मुखेन तिर्यङ्नतकुण्डलेन ॥२॥

पति के आगमन की प्रतीक्षा करती हुई, गवाक्ष पर स्तनों को रखकर द्वार की ओर मुख करके, वह महल पर से लटकने लगी और उसके कुण्डल तिरछे होकर झुक गये ॥ २ ॥

विलम्बहारा चलयोक्त्रका सा तस्माद्विमानाद्विनता चकाशे।
तपःक्षयादप्सरसां वरेव च्युतं विमानात्प्रियमीक्षमाणा ॥३॥

उसके हार लटकने लगे, योक्त्रक (कण्ठ-सूत्र ?) हिलने लगे, उस महल से झुकी हुई वह ऐसे दिखाई पड़ी जैसे तपस्या क्षीण होने पर (स्वर्ग के) प्रासाद से गिरे हुए अपने प्रियतम को देख रही कोई श्रेष्ठ अप्सरा ॥ ३ ॥

सा खेदसंस्विन्नललाटकेन निश्वासनिष्पीतविशेषकेण।
चिन्ताचलाक्षेण मुखेन तस्थौ भर्तारमन्यत्र विशङ्कमाना ॥४॥

श्रम के कारण उसके ललाट पर पसीना निकल आया, साँसों से

उसका विशेषक सूख गया, चिन्ता से उसकी आँखें स्थिर (या चञ्चल) थीं, वह अपने पति के किसी दूसरी जगह होने की शङ्का करती रही ॥ ४ ॥

ततश्चिरस्थानपरिश्रमेण स्थितैव पर्यङ्कतले पपात ।
तिर्यक्च शिश्ये प्रविकीर्णहारा सपादुकैकार्धविलम्बपादा ॥५॥

तब देर तक खड़ी रहने से थककर वह खड़ी खड़ी ही पलंग पर गिर पड़ी और तिरछी होकर सोयी, उसके हार बिखर गये, वह जूतियाँ पहने थी और उसके पाँवों का आधा भाग लटक रहा था ॥ ५ ॥

अथात्र काचित्प्रमदा सबाष्पां तां दुःखितां द्रष्टुमनीप्समाना ।
प्रासादसोपानतलप्रणादं चकार पद्भ्यां सहसा रुदन्ती ॥ ६ ॥

तब कोई स्त्री, जो उसके आँसू और दुःख को नहीं देखना चाहती थी, सहसा ही रोने लगी और अपने पाँवों से महल की सीढ़ी पर (धमधम) शब्द किया ॥ ६ ॥

तस्याश्च सोपानतलप्रणादं श्रुत्वैव तूर्णं पुनरुत्पपात ।
प्रीत्या प्रसक्तेव च संजहर्ष प्रियोपयानं परिशङ्कमाना ॥ ७ ॥

महल की सीढ़ी पर उसने जो शब्द किया उसे सुनकर वह शीघ्र ही उठ गई और प्रियतम आ रहे हैं, यह सोचती हुई वह आनन्द-विभोर होकर रोमाञ्चित हो गई ॥ ७ ॥

सा त्रासयन्ती वलभीपुटस्थान् पारावतान्नूपुरनिस्वनेन ।
सोपानकुक्षिं प्रससार हर्षाद्भ्रष्टं दुकूलान्तमचिन्तयन्ती ॥ ८ ॥

अपने नूपुरों के शब्द से छत पर रहनेवाले कबूतरों को डराती हुई

५—पा० 'सपादुकैवार्ध०' ।

तथा आनन्द के कारण गिरे हुए वस्त्र के अञ्चल का खयाल नहीं करती हुई वह सीढ़ी के ऊपर तेजी से पहुँच गई ॥ ८ ॥

तामङ्गनां प्रेक्ष्य च विप्रलब्धा निश्वस्य भूयः शयनं प्रपेदे ।
विवर्णवक्त्रा न रराज चाशु विवर्णचन्द्रेव हिमागमे द्यौः ॥९॥

उस स्त्री को देखकर वह वञ्चित (हताश) हो गई और (लम्बी) साँसें लेकर फिर से बिछावन पर चली गई। उसका मुख विवर्ण (उदास) हो गया और वह शोभित नहीं हुई, जैसे कि हिमऋतु के आने पर चन्द्रमा विवर्ण (फीका) हो जाता है और आकाश शोभित नहीं होता है ॥९॥

सा दुःखिता भर्तुरदर्शनेन कामेन कोपेन च दह्यमाना ।
कृत्वा करे वक्त्रमुपोपविष्टा चिन्तानदीं शोकजलां ततार ॥ १० ॥

पति का दर्शन नहीं होने से वह दुःखित थी और काम एवं कोप से जल रही थी। हाथ पर मुख रख कर वह बैठी बैठी शोकरूप जल वाली चिन्तारूपी नदी में तैरने लगी ॥ १० ॥

तस्या मुखं पद्मसपत्नभूतं पाणौ स्थितं पल्लवरागताम्रे ।
छायामयस्याम्भसि पङ्कजस्य बभौ नतं पद्ममिवोपरिष्टात् ॥ ११ ॥

लाल पल्लव के समान ताम्रवर्ण हाथ पर रखा हुआ उसका पद्म-तुल्य मुख ऐसे शोभित हुआ, जैसे जलमें पड़ने वाले कमल के प्रतिबिम्ब के ऊपर झुका हुआ कमल ॥ ११ ॥

सा स्त्रीस्वभावेन विचिन्त्य तत्तद्दृष्टानुरागेऽभिमुखेऽपि पत्यौ ।
धर्माश्रिते तत्त्वमविन्दमाना संकल्प्य तत्तद्विललाप तत्तत् ॥ १२ ॥

अपने स्त्री-स्वभाव के कारण उसने तरह तरह की चिन्ताएँ कीं; यद्यपि उसका पति उसमें अनुरक्त और उसके अनुकूल था तो भी वह धर्म की

शरण में चला गया था, इस सत्य को नहीं जानकर उस (सुन्दरी) ने बहुत-से संकल्प-विकल्प किये और भाँति भाँति से विलाप किया ॥ १२ ॥

एष्याम्यनाश्यानविशेषकायां त्वयीति कृत्वा मयि तां प्रतिज्ञां ।
कस्मान्नु हेतोर्दयितप्रतिज्ञः सोऽद्य प्रियो मे वितथप्रतिज्ञः ॥ १३ ॥

"तुम्हारा विशेषक सूखने के पहले ही आ जाऊँगा, मुझसे ऐसी प्रतिज्ञा करके क्यों वह मेरे प्रिय, जिन्हें अपनी प्रतिज्ञा प्रिय है, आज अपनी प्रतिज्ञा को असत्य कर रहे हैं ?॥ १३ ॥

आर्यस्य साधोः करुणात्मकस्य मन्नित्यभीरोरतिदक्षिणस्य ।
कुतो विकारोऽयमभूतपूर्वः स्वेनापरागेण ममापचारात् ॥ १४ ॥

वह आर्य साधु करुणात्मक मुझसे हमेशा डरनेवाले और मेरे अत्यन्त अनुकूल रहनेवाले हैं । कहाँ से उन्हें यह अभूतपूर्व विकार (भाव-परिवर्त्तन) हुआ ? उनके अपने ही वैराग्य से ? या मेरे ही किसी दोष से ?॥ १४ ॥

रतिप्रियस्य प्रियवर्तिनो मे प्रियस्य नूनं हृदयं विरक्तं ।
तथापि रागो यदि तस्य हि स्यान् मच्चित्तरक्षी न स नागतः स्यात्॥१५॥

मेरे प्रिय का, जिन्हें रति (काम) प्रिय है और जो मेरे प्रिय करनेवाले हैं, हृदय अवश्य ही विरक्त हो गया है । क्योंकि यदि उन्हें मुझसे अनुराग होता तो मेरे चित्त (इच्छा) की रक्षा करनेवाले वह नहीं आते, ऐसा नहीं होता ॥ १५ ॥

रूपेण भावेन च मद्विशिष्टा प्रियेण दृष्टा नियतं ततोऽन्या ।
तथा हि कृत्वा मयि मोघसान्त्वं लग्नां सतीं मामगमद्विहाय ॥१६॥

निश्चय ही मेरे प्रिय ने रूप और भाव में मुझसे बढ़ी-चढ़ी

किसी दूसरी (स्त्री) को देखा है; क्योंकि मुझे व्यर्थ ही सान्त्वना देकर मुझ अनुरक्त सती को छोड़कर वह चले गये ॥ १६ ॥

भक्तिं स बुद्धं प्रति यामवोचत्तस्य प्रयातुं मयि सोऽपदेशः।
मुनौ प्रसादो यदि तस्य हि स्यान्मृत्योरिवोग्रादनृताद्बिभीयात् ॥१७॥

उन्होंने बुद्ध के प्रति अपनी जो भक्ति बतलाई वह तो यहाँ से चले जाने का बहाना ही था; क्योंकि यदि मुनि में उनकी भक्ति होती तो वह मृत्यु के समान भयङ्कर असत्य से डरते ॥१७॥

सेवार्थमादर्शनमन्यचित्तो विभूषयन्त्या मम धारयित्वा।
बिभर्ति सोऽन्यस्य जनस्य तं चेन्नमोऽस्तु तस्मै चलसौहृदाय ॥१८॥

मेरे सिंगार करते समय अपने चित्त में किसी दूसरी को रख कर (या अनन्य-चित्त होकर) मेरी सेवा के लिए दर्पण धारण करके यदि अब वह किसी दूसरी (स्त्री) का ही दर्पण धारण कर रहे हैं तो मैं उस अस्थिर प्रेम को प्रणाम करती हूँ ॥१८॥

नेच्छन्ति याः शोकमवाप्तुमेवं श्रद्धातुमर्हन्ति न ता नराणां।
क चानुवृत्तिर्मयि सास्य पूर्वं त्यागः क चायं जनवत्क्षणेन ॥१९॥

जो (स्त्रियाँ) इस प्रकार का शोक प्राप्त करना नहीं चाहती हैं उन्हें पुरुषों का विश्वास नहीं करना चाहिए। कहाँ वह मेरे प्रति उनकी पहले की अनुकूलता और कहाँ यह क्षण भर में ही साधारण व्यक्ति की तरह (मेरा) परित्याग !" ॥१९॥

इत्येवमादि प्रियविप्रयुक्ता प्रियेऽन्यदाशङ्क्य च सा जगाद।
संभ्रान्तमारुह्य च तद्विमानं तां स्त्री सबाष्पा गिरमित्युवाच ॥२०॥

प्रिय से वियुक्त हुई सुन्दरी प्रिय के विषय में कुछ दूसरी ही आशङ्का

१८—पा० 'मादर्शमनन्यचित्तो'। २०—पा० 'सा स्त्री'।

करके ऐसा ही बहुत कुछ बोली और उस महल पर तेजी से चढ़कर उस स्त्री ने आँसू बहाते हुए यह वचन कहा ॥२०॥

युवापि तावत्प्रियदर्शनोऽपि सौभाग्यभाग्याभिजनान्वितोऽपि ।
यस्त्वां प्रियो नाभ्यचरत्कदाचित्तमन्यथा यास्यतिकातरासि ॥२१॥

"युवा सुन्दर सौभाग्यशाली और कुलीन होकर भी उन प्रिय ने तुम्हारा कभी अतिक्रमण नहीं किया और तुम उन्हें अन्यथा समझ रही हो, यह तुम्हारी अतिदीनता है ॥२१॥

मा स्वामिनं स्वामिनि दोषतो गाः प्रियं प्रियार्हं प्रियकारिणं तं ।
न स त्वदन्यां प्रमदामवैति स्वचक्रवाक्या इव चक्रवाकः ॥२२॥

हे स्वामिनि, उन प्रिय, प्रिय के योग्य और प्रिय करनेवाले स्वामी को दोष मत दो; वह आपके सिवा किसी दूसरी स्त्री को नहीं जानते हैं, जैसे कि चक्रवाक अपनी चक्रवाकी के अतिरिक्त किसी दूसरी (चक्रवाकी) को नहीं जानता है ॥२२॥

स तु त्वदर्थं गृहवासमीप्सन् जिजीविषुस्त्वत्परितोषहेतोः ।
भ्रात्रा किलार्येण तथागतेन प्रव्राजितो नेत्रजलार्द्रवक्त्रः ॥२३॥

वह आपके लिए घर में रहना चाहते हैं, आपके सन्तोष के लिए जीवित रहना चाहते हैं, किन्तु भ्राता आर्य तथागत ने उन अश्रु-जलसे आर्द्र मुखवाले को प्रव्रजित कर दिया है।" ॥२३॥

श्रुत्वा ततो भर्तरि तां प्रवृत्तिं सवेपथुः सा सहसोत्पपात ।
प्रगृह्य बाहू विरुराव चोच्चैर्हृदीव दिग्धाभिहता करेणुः ॥२४॥

तब पति का वह समाचार सुनकर वह एकाएक काँपती हुई उछल

पड़ी और बाहुओं को फैलाकर, हृदय में विष-लिप्त तीर से घायल हुई हथिनी के समान, जोर से रोई ॥२४॥

सा रोदनारोषितरक्तदृष्टिः संतापसंक्षोभितगात्रयष्टिः ।
पपात शीर्णाकुलहारयष्टिः फलातिभारादिव चूतयष्टिः ॥२५॥

रोते रोते उसकी आँखें लाल हो गईं, संताप से उसके शरीर में क्षोभ हुआ । फलों के अतिशय भार से जैसे आम की डाली टूट पड़ती है वैसे ही वह गिर पड़ी और उसके हार अस्त-व्यस्त होकर बिखर गये ॥२५॥

सा पद्मरागं वसनं वसाना पद्मानना पद्मदलायताक्षी ।
पद्मा विपद्मा पतितेव लक्ष्मीः शुशोष पद्मस्रगिवातपेन ॥२६॥

वह कमल के समान लाल वस्त्र पहने हुए थी, उसका मुख कमल के समान था, उसकी आँखें कमल के पत्तों के समान लाल थीं । वह वैसे ही गिर पड़ी जैसे कि पद्म धारण करने वाली लक्ष्मी पद्म-रहित होकर गिर पड़े और वह वैसे ही कुम्हलाने लगी जैसे कि धूपमें पद्मों की माला ॥२६॥

संचिन्त्य संचिन्त्य गुणांश्च भर्तुर्दीर्घं निशश्वास तताम चैव ।
विभूषणश्रीनिहिते प्रकोष्ठे ताम्रे कराग्रे च विनिदुधाव ॥२७॥

पति के गुणों का बार बार स्मरण कर, लम्बी साँसें लेती हुई वह मूर्च्छित हुई । आभूषणों की शोभा के निधान-स्वरूप प्रकोष्ठों और ताम्र-वर्ण हाथों को कँपाने लगी ॥२७॥

न भूषणार्थो मम संप्रतीति सा दिक्षु चिक्षेप विभूषणानि ।
निर्भूषणा सा पतिता चकाशे विशीर्णपुष्पस्तबका लतेव ॥२८॥

अब मुझे आभूषणों से प्रयोजन नहीं है, यह कह कर उसने अपने आभूषणों को सभी दिशाओं में फेंक दिया । आभूषण-रहित होकर पड़ी

हुई वह ऐसे शोभित हुई जैसे कि लता जिसके फूलों के गुच्छे झड़ गये हों ॥२८॥

धृतः प्रियेणायममभून्ममेति रुक्मत्सरुं दर्पणमालिलिङ्ग ।
यत्नाच्च विन्यस्ततमालपत्रौ रुष्टेव धृष्टं प्रममार्ज गण्डौ ॥ २९ ॥

'प्रिय ने इसे मेरे लिए धारण किया था' यह कहकर उसने सुवर्ण की मूँठ वाले दर्पण का आलिङ्गन किया और अपने कपोलों को जिस पर यत्नपूर्वक विशेषक की रचना की थी, क्रुद्ध-जैसी होकर जोर से पोंछ डाला ॥२९॥

सा चक्रवाकीव भृशं चुकूज श्येनाग्रपक्षक्षतचक्रवाका ।
विस्पर्धमानेव विमानसंस्थैः पारावतैः कूजनलोलकण्ठैः ॥ ३० ॥

बाज के द्वारा चक्रवाक के पंखों का अग्रभाग घायल होने पर चक्रवाकी की तरह वह कूजने लगी, मानो प्रासाद पर रहनेवाले कूजन-प्रिय कबूतरों से (कूजने में) होड़ कर रही हो ॥३०॥

विचित्रमृद्वास्तरणेऽपि सुप्ता वैडूर्यवज्रप्रतिमण्डितेऽपि ।
रुक्माङ्गपादे शयने महार्हे न शर्म लेभे परिचेष्टमाना ॥ ३१ ॥

यद्यपि वह रंग—बिरंगे कोमल आवरण (चादर) से ढके हुए, वैदूर्य व वज्र से मढ़े हुए, सुवर्ण-पादवाले, बहुमूल्य पलग पर लेटी हुई थी, तो भी वह छटपटाती ही रही और उसे चैन नहीं मिला ॥३१॥

संदृश्य भर्तुश्च विभूषणानि वासांसि वीणाप्रभृतींश्च लीलाः ।
तमो विवेशाभिननाद चोच्चैः पङ्कावतीर्णेव च संससाद ॥ ३२ ॥

पति के आभूषणों वस्त्रों और वीणा आदि लीला (मनोरञ्जन) की

२९—'तमालपत्र-तिलक-चित्रकाणि विशेषकम्' —अमरकोष ।

वस्तुओं को देखकर वह शोकाकुल हुई, जोर से रोई और कीचड़ में फँसी हुई के समान विषण्ण (दुःखी) हुई ॥३२॥

सा सुन्दरी श्वासचलोदरी हि वज्राग्निसंभिन्नदरीगुहेव।
शोकाग्निनान्तर्हृदि दह्यमाना विभ्रान्तचित्तेव तदा बभूव ॥ ३३ ॥

वज्र की अग्नि से जिसका भीतरी भाग फट गया हो उस गुफा के समान उस सुन्दरी के उदर में साँसों के (तेजी से चलने के) कारण उत्कम्प होने लगा। शोकाग्नि से उसका हृदय जलने लगा। उस समय उसका चित्त स्थिर नहीं रहा। ३३॥

रुरोद मम्लौ विरुराव जग्लौ बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ।
चकार रोषं विचकार माल्यं चकर्त वक्त्रं विचकर्ष वस्त्रं ॥ ३४ ॥

वह रोई, कुम्हलाई, चिल्लाई, इधर-उधर घूमी, खड़ी रही, विलाप किया, ध्यान (चिन्ता) किया, क्रोध किया, मालाओं को बिखेरा, (दाँतों से) अपने मुख को काटा और वस्त्र को चीरा ॥३४॥

तां चारुदन्तीं प्रसभं रुदन्तीं संश्रुत्य नार्यः परमाभितप्ताः।
अन्तर्गृहादारुरुहुर्विमानं त्रासेन किंनर्य इवाद्रिपृष्ठं ॥ ३५ ॥

वह सुन्दर दाँतवाली जोर से रो रही है, यह सुनकर स्त्रियाँ अत्यन्त सन्तप्त हुईं और घर के भीतर से महल पर चढ़ गईं; जैसे डरी हुई किन्नरियाँ पर्वत पर चढ़ रही हों ॥३५॥

बाष्पेण ताः क्लिन्नविषण्णवक्त्रा वर्षेण पद्मिन्य इवार्द्रपद्माः।
स्थानानुरूपेण यथाभिमानं निलिल्यिरे तामनु दह्यमानाः ॥ ३६ ॥

अश्रु-जल से उन (स्त्रियों) के विषण्ण मुख भींग गये थे, जैसे वर्षा के जल से पोखरों के कमल आर्द्र हो गये हों। उसके दुःख में संतप्त

होती हुई वे अपनी अपनी स्थिति और सम्मान के अनुसार बैठ गईं ।।३६।।

ताभिर्वृता हर्म्यतलेऽङ्गनाभिश्चिन्तातनुः सा सुतनुर्बभासे ।
शतह्रदाभिः परिवेष्टितेव शशाङ्कलेखा शरदभ्रमध्ये ॥ ३७ ॥

महल पर उन स्त्रियों से घिरी हुई वह चिन्ताक्षीण सुन्दरी ऐसे शोभित हुई, जैसे शरत्कालीन बादल के भीतर बिजलियों से घिरी हुई चाँदनी ।।३७।।

या तत्र तासां वचसोपपन्ना मान्या च तस्या वयसाधिका च ।
सा पृष्ठतस्तां तु समालिलिङ्ग प्रमृज्य चाश्रूणि वचांस्युवाच ।।३८।।

वहाँ उन सब के बीच जो माननीया उम्र में बड़ी और बोलने में चतुर थी उसने उसका पीछे से आलिङ्गन किया और उसके आँसुओं को पोछकर ये वचन कहे:— ।।३८।।

राजर्षिवध्वास्तव नानुरूपो धर्माश्रिते भर्तरि जातु शोकः ।
इक्ष्वाकुवंशे ह्यभिकाङ्क्षितानि दायाद्यभूतानि तपोवनानि ।।३९।।

"तुम राजर्षि की पत्नी हो, अपने पति के धर्म की शरण में जाने पर तुम्हारे लिए शोक करना उचित नहीं है । इक्ष्वाकु-वंश में (उत्पन्न राजाओं के लिए) तपोवन पैतृक सम्पत्ति-स्वरूप हैं और अभीष्ट हैं ।।३९।।

प्रायेण मोक्षाय विनिःसृतानां शाक्यर्षभाणां विदिताः स्त्रियस्ते ।
तपोवनानीव गृहाणि यासां साध्वीव्रतं कामवदाश्रितानां ॥ ४० ॥

मोक्ष के लिए निकले हुए शाक्य-श्रेष्ठों की स्त्रियों को प्रायः जानती ही हो जिनके लिए घर तपोवन के समान थे और जिन्होंने साध्वी स्त्री के व्रत को कामोपभोग की तरह ग्रहण किया ।।४०।।

यद्यन्यया रूपगुणाधिकत्वाद्भर्ता हृतस्ते कुरु बाष्पमोक्षं ।
मनस्विनी रूपवती गुणाढ्या हृदि क्षत कात्र हि नाश्रु मुञ्चेत् ॥४१॥

यदि किसी दूसरी स्त्री ने अपने रूप और गुणों की अधिकता के कारण तुम्हारे पति का हरण कर लिया है तो आँसू बहाओ, क्योंकि हृदय में घायल होने पर कौन मनस्विनी रूपवती और गुणवती स्त्री आँसू नहीं बहायेगी ? ॥४१॥

अथापि किंचिद्व्यसनं प्रपन्नो मा चैव तद्भूत्सदृशोऽत्र बाष्पः।
अतो विशिष्टं न हि दुःखमस्ति कुलोद्गताया: पतिदेवतायाः ॥४२॥

या यदि वह किसी विपत्ति में पड़ गये हैं, ऐसा कभी न हो (भगवान् न ऐसा करे) तो इसके लिए रोना उचित ही है; क्योंकि कुलीन पतिदेवता स्त्री के लिए इससे बढ़कर दुःख नहीं है ॥४२॥

अथ त्विदानीं लडितः सुखेन स्वस्थः फलस्थो व्यसनान्यदृष्ट्वा ।
वीतस्पृहो धर्ममनुप्रपन्नः किं विक्लवा रोदिषि हर्षकाले ॥४३॥

किन्तु सुखी स्वस्थ और भोगों के बीच रहते हुए, विपत्तियों को देखे विना ही, इच्छा-रहित होकर वह अब धर्म की शरण में चले गये हैं। तब हर्ष के समय में क्यों विकल होकर रो रही हो" ? ॥४३॥

इत्येवमुक्तापि बहुप्रकारं स्नेहात्तया नैव धृतिं चकार ।
अथापरा तां मनसोऽनुकूलं कालोपपन्नं प्रणयादुवाच ॥४४॥

इस तरह उसके द्वारा अनेक प्रकार से स्नेहपूर्वक कहे जाने पर भी उसे धैर्य नहीं हुआ। तब दूसरी स्त्री ने उसके मन के अनुकूल तथा समय के उपयुक्त प्रेमपूर्वक यों कहा:— ॥४४॥

४३—पा० 'विक्लवे'।

ब्रवीमि सत्यं सुविनिश्चितं मे प्राप्तं प्रियं द्रक्ष्यसि शीघ्रमेव ।
त्वया विना स्थास्यति तत्र नासौ सत्त्वाश्रयश्चेतनयेव हीनः ॥४५॥

"मैं निश्चित सत्य कहती हूँ कि तुम्हारे प्रिय आयेंगे और उन्हें तुम शीघ्र ही देखोगी। तुम्हारे विना वह वहाँ नहीं रह सकते जैसे कि चेतना से हीन शरीर नहीं रह सकता ॥४५॥

अङ्केऽपि लक्ष्म्या न स निर्वृतः स्यात्
त्वं तस्य पार्श्वे यदि तत्र न स्याः ।
आपत्सु कृच्छ्रास्वपि चागतासु
त्वां पश्यतस्तस्य भवेन्न दुःखं ॥४६॥

लक्ष्मी की गोद में भी वह सुखी नहीं होंगे, यदि वहाँ उनके बगल में तुम न रहो। और, दारुण विपत्तियों के आने पर भी तुम्हें देखते हुए उन्हें दुःख न होगा ॥४६॥

त्वं निर्वृतिं गच्छ नियच्छ बाष्पं तप्ताश्रुमोक्षात्परिरक्ष चक्षुः ।
यस्तस्य भावस्त्वयि यश्च रागो न रंस्यते त्वद्विरहात्स धर्मे ॥४७॥

तुम शान्त होओ, रोना बन्द करो गर्म आँसू बहाने से आँखों को बचाओ। तुममें उनका जो भाव है, और जो अनुराग है (उससे तो यही कहना पड़ता है कि) तुम्हारे विरह में उन्हें धर्म में रति (आनन्द) नहीं होगी ॥४७॥

स्यादत्र नासौ कुलसत्त्वयोगात्काषायमादाय विहास्यतीति ।
अनात्मनादाय गृहोन्मुखस्य पुनर्विमोक्तुं क इवास्ति दोषः ॥४८॥

यदि यह कहें कि अपने कुल और सत्त्व के कारण वह काषाय वस्त्र ग्रहण करके न छोड़ेंगे तो अनिच्छापूर्वक ग्रहण करके घर (लौट जाने) की इच्छा करनेवाले के लिए पुनः छोड़ देने में कौन-सा दोष है ? ॥४८॥

इति युवतिजनेन सान्त्व्यमाना
हृतहृदया रमणेन सुन्दरी सा ।
द्रमिडमभिमुखी पुरेव रम्भा
क्षितिमगमत्परिवारिताप्सरोभिः ॥४६

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये भार्याविलापो नाम षष्ठः सर्गः ।

युवतियों के द्वारा इस प्रकार सान्त्वना दी जाने पर वह सुन्दरी, जिसके हृदय को उसके प्रिय ने हर लिया था, अपने निवास में चली गई, जैसे प्राचीन काल में अप्सराओं से घिरी हुई रम्भा द्रमिड को खोजती हुई पृथ्वी पर चली आई ॥४९॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "भार्या-विलाप"
नामक षष्ठ सर्ग समाप्त ।

सप्तम सर्ग

नन्द-विलाप

लिङ्गं ततः शास्तृविधिप्रदिष्टं गात्रेण बिभ्रन्न तु चेतसा तत् ।
भार्यागतैरेव मनोवितर्कैर्जेह्रीयमाणो न ननन्द नन्दः ॥१॥

शास्ता के विधान द्वारा निर्दिष्ट (शास्त्र-सम्मत) उस वेष को नन्द शरीर से न कि चित्त से धारण कर रहा था; भार्या विषयक मानसिक विचारों में डूबे रहने के कारण उसे आनन्द नहीं हुआ ॥१॥

स पुष्पमासस्य च पुष्पलक्ष्म्या सर्वाभिसारेण च पुष्पकेतोः ।
यानीयभावेन च यौवनस्य विहारसंस्थो न शमं जगाम ॥२॥

वसन्त ऋतु की फूलों की शोभा के कारण, कामदेव के सर्वत्र व्याप्त होने के कारण और जवानी की उमंगों के कारण विहार में रहते हुए भी उसे शान्ति नहीं मिली ॥२॥

स्थितः स दीनः सहकारवीथ्यामालीनसंमूर्छितषट्पदायां ।
भृशं जजृम्भे युगदीर्घबाहुर्ध्यात्वा प्रियां चापमिवाचकर्ष ॥३॥

आम के बाग में, जहाँ बहुत से भ्रमर बैठे हुए थे, वह बेचारा खड़ा था और प्रिया को स्मरण कर जुए के समान लम्बी भुजाओं (को फैला कर) वाले ने बार बार जँभाई ली, जान पड़ा जैसे धनुष खींच रहा हो ॥३॥

स पीतकक्षोदमिव प्रतीच्छन् चूतद्रुमेभ्यस्तनुपुष्पवर्षं ।
दीर्घं निशश्वास विचिन्त्य भार्यां नवग्रहो नाग इवावरुद्धः ॥४॥

आम के वृक्षों से गिरते हुए नन्हें नन्हें फूलों की वर्षा से, जैसे

कुङ्कुम चूर्ण की वृष्टि से, सिक्त होते हुए उसे अपनी पत्नी का खयाल हो गया और घेरा डालकर हाल में ही पकड़े गये हाथी के समान उसने लम्बी साँसें लीं ॥४॥

शोकस्य हर्ता शरणागतानां शोकस्य कर्ता प्रतिगर्वितानां ।
अशोकमालम्ब्य स जातशोकः प्रियां प्रियाशोकवनां शुशोच ॥५॥

जो शरणागतों का शोक हरण करनेवाला और अभिमानियों को शोक देनेवाला था वह (स्वयं) शोकित होकर अशोक वृक्ष का सहारा लेकर अशोक-वन को चाहनेवाली अपनी प्रियाके लिए शोक करने लगा ॥५॥

प्रियां प्रियायाः प्रतनुं प्रियङ्गुं निशाम्य भीतामिव निष्पतन्तीं ।
सस्मार तामश्रुमुखीं सबाष्पः प्रियां प्रियङ्गुप्रसवावदातां ॥६॥

प्रिया की प्यारी कोमल प्रियङ्गु-लता को, जो मानो भयभीत होकर निकल रही थी, देख कर उसने प्रियङ्गु के फूल के समान निर्मल वर्णवाली उस अश्रुमुखी प्रिया को रोते हुए स्मरण किया ॥६॥

पुष्पावनद्धे तिलकद्रुमस्य दृष्ट्वान्यपुष्टां शिखरे निविष्टां ।
संकल्पयामास शिखां प्रियायाः शुक्लांशुकेऽट्टालमपाश्रितायाः ॥७॥

तिलक नामक वृक्ष के फूलों से भरे हुए शिखर पर कोयल को बैठी देख कर उसने अट्टालिका पर खड़ी सफेद वस्त्रवाली प्रिया की शिखा की कल्पना की ॥७॥

लतां प्रफुल्लामतिमुक्तकस्य चूतस्य पार्श्वे परिरभ्य जातां ।
निशाम्य चिन्तामगमत्तदैवं श्लिष्टा भवेन्मामपि सुन्दरीति ॥८॥

अतिमुक्तक की कुसुमित लता आम के पेड़ के पास ही में उत्पन्न

८—पा० 'कदैवं' । ९—पा० 'पुष्पैः कराला' ।

होकर उसे आलिङ्गन कर रही थी, यह देखकर उसने सोचा 'सुन्दरी मुझे भी ऐसे ही आलिङ्गन करती !' ॥८॥

पुष्पोत्कराला अपि नागवृक्षा दान्तैः समुद्गैरिव हेमगर्भैः।
कान्तारवृक्षा इव दुःखितस्य न चक्षुराचिक्षिपुरस्य तत्र ॥९॥

सोने से भरे हुए हाथी-दाँत के संपुटों के समान फूलों से शोभित नाग वृक्षों ने, बीहड़ वनके वृक्षों के समान, उस दुःखित की दृष्टि को आकृष्ट नहीं किया।

गन्धं वसन्तोऽपि च गन्धपर्णा गन्धर्ववेश्या इव गन्धपूर्णाः।
तस्यान्यचित्तस्य शुगात्मकस्य घ्राणं न जह्रुर्हृदयं प्रलेपुः ॥१०॥

गन्धर्व वेश्याओं के समान सुगन्धि से भरे हुए गन्धपर्ण वृक्षों ने सुगन्धि फैलाते हुए भी उस अन्यमनस्क और शोकाकुल के घ्राण को आकृष्ट (आनन्दित) नहीं किया, प्रत्युत उसके हृदय को संतप्त किया ॥१०॥

संरक्तकण्ठैश्च विनीलकण्ठैस्तुष्टैः प्रहृष्टैरपि चान्यपुष्टैः।
लेलिह्यमानैश्च मधु द्विरेफैः स्वनद्वनं तस्य मनो नुनोद ॥११॥

अनुरक्त कण्ठ (मधुर स्वर) वाले मयूरों, संतुष्ट व प्रसन्न कोकिलों तथा मधु चाटते हुए भ्रमरों से गूँजते हुए उस वन ने उसके चित्त को चञ्चल कर दिया ॥११॥

स तत्र भार्यारणिसंभवेन वितर्कधूमेन तमःशिखेन।
कामाग्निनान्तर्हृदि दह्यमानो विहाय धैर्यं विललाप तत्तत् ॥१२॥

भार्या रूपी अरणि से उत्पन्न हुई चिन्तारूपी धुआँवाली तथा शोक-रूपी ज्वालावाली कामाग्नि से हृदय में जलते हुए उसने धैर्य छोड़ कर बहुत विलाप किया :— ॥१२॥

अद्यावगच्छामि सुदुष्करं ते चक्रुः करिष्यन्ति च कुर्वते च ।
त्यक्त्वा प्रियामश्रुमुखीं तपो ये चेरुश्चरिष्यन्ति चरन्ति चैव ॥१३॥

"आज मैं समझता हूँ कि उन्होंने बड़ा दुष्कर कार्य किया, करेंगे और करते हैं, जिन्होंने अश्रुमुखी प्रिया को छोड़कर तप किया है, करेंगे और करते हैं ॥१३॥

तावद्दृढं बन्धनमस्ति लोके न दारवं तान्तवमायसं वा ।
यावद्दृढं बन्धनमेतदेव मुखं चलाक्षं ललितं च वाक्यं ॥१४॥

संसार में काठ, डोरी या लोहे का बन्धन उतना दृढ़ नहीं है जितना कि चञ्चल आँखोंवाला मुख और ललित वाणी ॥१४॥

छित्वा च भित्वा च हि यान्ति तानि स्वपौरुषाच्चैव सुहृद्बलाच्च ।
ज्ञानाच्च रौक्ष्याच्च विना विमोक्तुं न शक्यते स्नेहमयस्तु पाशः ॥१५

अपने पौरुष और मित्रों के बल से उन बन्धनों को छिन्न-भिन्न करके लोग निकल जाते हैं, किन्तु यह स्नेहमय बन्धन ज्ञान और रूखे-पन के बिना नहीं छोड़ा (तोड़ा) जा सकता है ॥१५॥

ज्ञानं न मे तच्च शमाय यत्स्यान्न चास्ति रौक्ष्यं करुणात्मकोऽस्मि ।
कामात्मकश्चास्मि गुरुश्च बुद्धः स्थितोऽन्तरे चक्रगतेरिवास्मि ॥१६॥

मुझे ज्ञान नहीं है जिससे कि शान्ति होती है और न रूखापन ही है मैं तो दयालु प्रकृति का हूँ। (एक ओर तो) मैं कामासक्त हूँ और (दूसरी ओर) मेरे गुरु बुद्ध हैं, मैं मानो (रथ के) दो चक्कों के बीच में स्थित हूँ ॥१६॥

अहं गृहीत्वापि हि भिक्षुलिङ्गं भ्रातृषिणा द्विर्गुरुणानुशिष्टः ।
सर्वास्ववस्थासु लभे न शान्तिं प्रियावियोगादिव चक्रवाकः ॥१७॥

यद्यपि मैंने भिक्षु-वेष धारण कर लिया है और उनके द्वारा जो

(ज्येष्ठ) भ्राता और ऋषि होने के कारण दो प्रकार से मेरे गुरु हैं, उपदिष्ट हुआ हूँ, किन्तु किसी भी अवस्था में, अपनी प्रियासे विछुड़े हुए चकवे के समान, शान्ति नहीं पा रहा हूँ ॥१७॥

अद्यापि तन्मे हृदि वर्तते च यद्दर्पणे व्याकुलिते मया सा ।
कृतानृतक्रोधकमब्रवीन्मां कथं कृतोऽसीति शठं हसन्ती ॥ १८ ॥

मेरे द्वारा दर्पण आविल (गंदा) किया जाने पर उसने झूठा क्रोध करके दुष्टतापूर्वक हँसते हुए कहा था 'कैसे हो गये हो' यह वाक्य अब भी मेरे हृदय में वर्तमान है ॥१८॥

यथैष्यनाश्यानविशेषकायां मयीति यन्मामवदच्च साश्रु ।
पारिप्लवाक्षेण मुखेन बाला तन्मे वचोऽद्यापि मनो रुणद्धि ॥१९॥

उस बालिका ने डबडबाई आँखों से रोते हुए मुझे जो कहा था 'मेरा विशेषक सूखने के पहले ही जिसमें आ जाना' वह वचन अब भी मेरे मनको व्यथित कर रहा है ॥१९॥

बद्ध्वासनं पर्वतनिर्झरस्थः स्वस्थो यथा ध्यायति भिक्षुरेषः ।
सक्तः क्वचिन्नाहमिवैष नूनं शान्तस्तथा तृप्त इवोपविष्टः ॥ २० ॥

पहाड़ के झरने पर आसन बाँधकर यह भिक्षु निर्विकार होकर जिस प्रकार ध्यान कर रहा है, अवश्य ही यह मेरे समान किसी में आसक्त नहीं है, शान्त है और मानो (सब भोगों में) तृप्त होकर बैठा हुआ है ॥२०॥

पुंस्कोकिलानामविचिन्त्य घोषं वसंतलक्ष्म्यामविचार्य चक्षुः ।
शास्त्रं यथाभ्यस्यति चैष युक्तः शङ्के प्रियाकर्षति नास्य चेतः ॥२१॥

कोकिलों की ध्वनि का खयाल न करके और वसन्त की शोभा को

ओर दृष्टिपात न करके यह जिस मनोयोग के साथ शास्त्र का अभ्यास कर रहा है, मैं समझता हूँ प्रिया इसके चित्त को आकृष्ट नहीं कर रही है ॥२१॥

अस्मै नमोऽस्तु स्थिरनिश्चयाय निवृत्तकौतूहलविस्मयाय।
शान्तात्मनेऽन्तर्गतमानसाय चङ्क्रम्यमाणाय निरुत्सुकाय ॥२२॥

नमस्कार है इसको जिसका निश्चय दृढ़ है, जिसका कौतूहल और औद्धत्य नष्ट हो गया है, जिसकी आत्मा शान्त है, जिसका चित्त भीतर की ओर मुड़ा हुआ है और जो उत्सुकता-रहित होकर टहल रहा है ॥२२॥

निरीक्षमाणस्य जलं सपद्मं वनं च फुल्लं परपुष्टजुष्टं।
कस्यास्ति धैर्यं नवयौवनस्य मासे मधौ धर्मसपत्नभूते ॥ २३ ॥

धर्म के शत्रुस्वरूप मधुमास में पद्मयुक्त जलाशय और कोकिलों से सेवित कुसुमित वन को देखकर (इस भिक्षु के समान) किस नवयुवक का धैर्य बना रहेगा ? ॥२३॥

भावेन गर्वेण गतेन लक्ष्म्या स्मितेन कोपेन मदेन वाग्भिः।
जह्रुः स्त्रियो देवनृपर्षिसंघान् कस्माद्धि नास्मद्विधमाक्षिपेयुः ॥२४॥

भाव गर्व गति सौन्दर्य मुस्कान कोप मद और वाणी द्वारा स्त्रियों ने देवर्षियों और राजर्षियों को वशीभूत किया है, फिर मेरे-जैसे को कैसे आकृष्ट नहीं करेंगी ? ॥२४॥

कामाभिभूतो हि हिरण्यरेताः स्वाहां सिषेवे मघवानहल्यां।
सत्त्वेन सर्गेण च तेन हीनः स्त्रीनिर्जितः किमुत मानुषोऽहं ॥२५॥

काम से पीड़ित हिरण्यरेता ने स्वाहा का सेवन किया और इन्द्रने

अहल्या का। तब उस उत्साह और निश्चय से हीन एवं स्त्री के वशीभूत मुझ मनुष्य का क्या कहना? ॥२५॥

सूर्यः सरण्यूं प्रति जातरागस्तत्प्रीतये तष्ट इति श्रुतं नः।
यामश्वभूतोऽश्ववधूं समेत्य यतोऽश्विनौ तौ जनयांबभूव ॥ २६ ॥

सरण्यू के प्रति अनुरक्त होकर सूर्य ने उसकी प्रसन्नता के लिए अपने को तराशा (अर्थात् अपना तेज क्षीण किया), ऐसा हमलोगों ने सुना है और घोड़ा होकर घोड़ी के रूपमें उसके साथ संगम करके दो अश्विनी कुमारों को जन्म दिया ॥२६॥

स्त्रीकारणं वैरविषक्तबुद्ध्योर्वैवस्वताग्न्योश्चलितात्मधृत्योः।
बहूनि वर्षाणि बभूव युद्धं कः स्त्रीनिमित्तं न चलेदिहान्यः ॥ २७ ॥

स्त्री के कारण धैर्य से विचलित होकर वैवस्वत और अग्नि शत्रुता की बुद्धि से युक्त हुए तथा बहुत वर्षों तक आपस में युद्ध किया। तब दूसरा कौन व्यक्ति इस संसार में स्त्री के निमित्त विचलित नहीं होगा? ॥२७॥

भेजे श्वपाकीं मुनिरक्षमालां कामाद्वसिष्ठश्च स सद्वरिष्ठः।
यस्यां विवस्वानिव भूजलादः सुतः प्रसूतोऽस्य कपिञ्जलादः ॥२८॥

साधुओं में श्रेष्ठ मुनि वसिष्ठ ने काम-वासना के कारण चण्डाल जाति की अक्षमाला के साथ सम्भोग किया, जिससे उसे सूर्य के समान तेजस्वी (भूजलाद) पुत्र कपिञ्जलाद उत्पन्न हुआ ॥२८॥

---

२८ भूजलाद = पृथ्वी से पानी सोखने वाला (सूर्य), मिट्टी खाकर और पानी पीकर रहने वाला (कपिञ्जलाद)।

पराशरः शापशरस्तथर्षिः कालीं सिषेव झषगर्भयोनिं ।
सुतोऽस्य यस्यां सुषुवे महात्मा द्वैपायनो वेदविभागकर्ता ॥ २९ ॥

शापरूपी तीर (छोड़ने) वाले ऋषि पराशर ने मछली के गर्भ से उत्पन्न काली का सेवन किया जिससे उसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ—महात्मा द्वैपायन, जिसने वेदों का विभाग किया ॥२९॥

द्वैपायनो धर्मपरायणश्च रेमे समं काशिषु वेश्यवध्वा ।
यया हतोऽभूच्चलनूपुरेण पादेन विद्युल्लतयेव मेघः ॥ ३० ॥

और धर्म-परायण द्वैपायन ने काशी में वेश्या के साथ रमण किया, जिसने उसे चञ्चल नूपुर वाले पाँव से मारा जैसे कि बिजली मेघ पर प्रहार करती है ॥३०॥

तथाङ्गिरा रागपरीतचेताः सरस्वतीं ब्रह्मसुतः सिषेव ।
सारस्वतो यत्र सुतोऽस्य जज्ञे नष्टस्य वेदस्य पुनःप्रवक्ता ॥ ३१ ॥

उसी प्रकार ब्रह्मा के पुत्र अङ्गिरा ने कामासक्त-चित्त होकर सरस्वती का सेवन किया, जिससे उसे सारस्वत नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसने नष्ट हुए वेदों को फिर से कहा ॥३१॥

तथा नृपर्षेर्दिलिपस्य यज्ञे स्वर्गस्त्रियां काश्यप आगतास्थः ।
स्रुचं गृहीत्वा स्रवदात्मतेजश्चिक्षेप वह्नावसितो यतोऽभूत् ॥ ३२ ॥

राजर्षि दिलिप के यज्ञ में काश्यप स्वर्ग की स्त्री के प्रति अनुरक्त हो गया और स्रुवा लेकर अपने झरते हुए तेज को अग्नि में फेंका जिससे असित का जन्म हुआ ॥३२॥

तथाङ्गदोऽन्तं तपसोऽपि गत्वा कामाभिभूतो यमुनामगच्छत् ।
धीमत्तरं यत्र रथीतरं स सारङ्गजुष्टं जनयांबभूव ॥३३॥

अङ्गद तपस्या के अन्त तक पहुँच कर भी कामसे पीड़ित हो यमुना

के समीप गया, जिससे बुद्धिमान् तथा मृगों से सेवित (तपस्वी) रथीतर का जन्म हुआ ॥३३॥

निशाम्य शान्तां नरदेवकन्यां वनेऽपि शान्तेऽपि च वर्तमानः ।
चचाल धैर्यान्मुनिरृष्यशृङ्गः शैलो महीकम्प इवोच्चशृङ्गः ॥३४॥

राजकन्या शान्ता को देखकर तपोवन में शान्तिपूर्वक (पवित्रता-पूर्वक) रहता हुआ मुनि ऋष्यशृङ्ग धैर्य से विचलित हो गया, जैसे भूकम्प में ऊँचा शिखर वाला पर्वत काँपने लगता है ॥३४॥

ब्रह्मर्षिभावार्थमपास्य राज्यं भेजे वनं यो विषयेष्वनास्थः ।
स गाधिजश्चापहृतो घृताच्या समा दशैकं दिवसं विवेद ॥३५॥

ब्रह्मर्षि होने के लिए जिसने राज्य छोड़कर और विषयों से विरक्त होकर वन का आश्रय लिया वह गाधि-पुत्र (विश्वामित्र) घृताची (अप्सरा) के वशीभूत हुआ और उसने (उसके साथ रहते हुए) दस वर्ष को एक दिवस समझा ॥३५॥

तथैव कन्दर्पशराभिमृष्टो रम्भां प्रति स्थूलशिरा मुमूर्छ ।
यः कामरोषात्मतयानपेक्षः शशाप तामप्रतिगृह्यमाणः ॥३६॥

उसी प्रकार कामदेव के तीर से घायल (स्पृष्ट) होकर स्थूलशिरा रम्भा के प्रति मूर्छित हुआ और उसके द्वारा स्वीकृत नहीं होने पर काम व क्रोध से अन्धा होकर उसने रम्भा को शाप दे दिया । ३६॥

प्रमद्वरायां च रुरुः प्रियायां भुजंगमेनापहृतेन्द्रियायां ।
संदृश्य संदृश्य जघान सर्पान्प्रियं न रोषेण तपो ररक्ष ॥३७॥

अपनी प्रिया प्रमद्वरा के (ज्ञान-) इन्द्रिय सर्प द्वारा नष्ट होने पर

३३—"तपोवन-मृगों की जीभों से चाटे जाते हुए बूढ़े हो गये"—ह० च० पञ्चम उच्छ्वास ।

रुरुने खोज खोज कर सर्पों की हत्या की और क्रोध के कारण अपनी प्रिय तपस्या की रक्षा नहीं की ॥३७॥

नप्ता शशाङ्कस्य यशोगुणाङ्को बुधस्य सूनुर्विबुधप्रभावः ।
तथोर्वशीमप्सरसं विचिन्त्य राजर्षिरुन्मादमगच्छदैडः ॥३८॥

चन्द्रमा का नाती, बुध का पुत्र, देवता के समान प्रभावशाली, यशस्वी और गुणवान् राजर्षि ऐड उर्वशी अप्सरा का चिन्तन कर उन्मत्त हो गया ॥३८॥

रक्तो गिरेर्मूर्धनि मेनकायां कामात्मकत्वाच्च स तालजङ्घः ।
पादेन विश्वावसुना सरोषं वज्रेण हिन्ताल इवाभिजघ्ने ॥३९॥

पर्वत के शिखर पर मेनका के प्रति अपनी कामासक्ति के कारण वह तालजङ्घ अनुरक्त हो गया और विश्वावसु ने क्रोधपूर्वक अपने पाँव से उसपर प्रहार किया, जैसे कि वज्र हिन्ताल वृक्ष पर आघात करता है ॥३९॥

नाशं गतायां परमाङ्गनायां गङ्गाजलेऽनङ्गपरीतचेताः ।
जह्नुश्च गङ्गां नृपतिर्भुजाभ्यां रुरोध मैनाक इवाचलेन्द्रः ॥४०॥

गंगा के जल में अपनी उत्तम पत्नी के नष्ट होने (डूब मरने) पर राजा जह्नु ने पर्वत-श्रेष्ठ मैनाक के समान अपनी भुजाओं से गंगा को रोक लिया ॥४०॥

नृपश्च गङ्गाविरहाज्जुघूर्णे गङ्गाम्भसा साल इवात्तमूलः ।
कुलप्रदीपः प्रतिपस्य सूनुः श्रीमत्तनुः शन्तनुरस्वतन्त्रः ॥४१॥

प्रतिप का पुत्र, अपने कुलका प्रदीप-स्वरूप, सुन्दर शरीर वाला राजा शन्तनु अपनी पत्नी गङ्गा से बिछुड़ कर अधीर हो ऐसे चक्कर

काटने लगा, जैसे कि साल का वृक्ष जिसकी जड़ गङ्गा के जल से उखड़ गयी हो ॥४१॥

हृतां च सौनन्दकिनानुशोचन्प्राप्तामिवोर्वीं स्त्रियमुर्वशीं तां ।
सद्वृत्तवर्मा किल सोमवर्मा बभ्राम चित्तोद्भवभिन्नवर्मा ॥४२॥

सौनन्दकी के द्वारा अपनी पत्नी उस उर्वशी का, मानो अपनी अर्जित पृथ्वी का, अपहरण होने पर सदाचाररूपी कवच धारण करनेवाला सोमवर्मा, जिसका कवच कामदेव द्वारा विदीर्ण हो गया, पत्नी के लिए शोक करता हुआ (पृथ्वीपर) घूमने लगा ॥४२॥

भार्यां मृतां चानुममार राजा भीमप्रभावो भुवि भीमकः सः ।
बलेन सेनाक इति प्रकाशः सेनापतिर्देव इवात्तसेनः ॥४३॥

वह राजा भीमक--जिसका प्रभाव पृथ्वी पर भयङ्कर था, जो अपने बल के कारण सेनाक नाम से विख्यात था और जो सेनापति देवेन्द्र के समान (महती) सेना का अधिकारी था—अपनी भार्या के मरने पर (स्वयं भी) मर गया ॥४३॥

स्वर्गं गते भर्तरि शन्तनौ च कालीं जिहीर्षन् जनमेजयः सः ।
अवाप भीष्मात्समवेत्य मृत्युं न तद्गतं मन्मथमुत्ससर्ज ॥४४॥

वह जनमेजय, जो काली (मत्स्यगंधा) के पति शन्तनु के स्वर्गीय होने पर काली को (अपनी पत्नी बनाने के लिए) हरण करना चाहता था, भीष्म से भिड़कर मृत्यु को प्राप्त हुआ, किंतु अपनी काम-वासना को नहीं छोड़ा ॥४४॥

शप्तश्च पाण्डुर्मदनेन नूनं स्त्रीसंगमे मृत्युमवाप्स्यसीति ।
जगाम माद्रीं न महर्षिशापादसेव्यसेवी विममर्श मृत्युं ॥४५॥

मदन ने पाण्डु को शाप दिया—"स्त्री के साथ सङ्गम करने पर

तुम अवश्य मृत्यु को प्राप्त होगे।" वह माद्री के पास गया। उस असेव्य-सेवी ने महर्षि के शाप के कारण मृत्यु का चिन्तन नहीं किया ॥४५॥

एवंविधा देवनृपर्षिसङ्घाः स्त्रीणां वशं कामवशेन जग्मुः।
धिया च सारेण च दुर्बलः सन्प्रियामपश्यन् किमु विक्लवोऽहं ॥४६॥

ऐसे देवर्षियों और राजर्षियों के समूह काम के अधीन हो स्त्रियों के वशीभूत हुए। मैं बुद्धि और शक्ति में हीन हूँ, तब अपनी प्रिया को नहीं देखने के कारण मेरी विह्वलता का क्या पूछना? ॥४६॥

यास्यामि तस्मादगृहमेव भूयः कामं करिष्ये विधिवत्सकामं।
न ह्यन्यचित्तस्य चलेन्द्रियस्य लिङ्गं क्षमं धर्मपथाच्च्युतस्य ॥४७॥

इसलिए घर को ही लौट जाऊँगा और इच्छानुसार यथाविधि कामोपभोग करूँगा; क्योंकि जिसका चित्त अन्यत्र है, जिसके इन्द्रिय चञ्चल हैं और जो धर्म के मार्ग से च्युत है उसके लिए भिक्षु-वेष धारण करना उचित नहीं है ॥४७॥

पाणौ कपालमवधाय विधाय मौण्ड्यं
मानं निधाय विकृतं परिधाय वासः।
यस्योद्भवो न धृतिरस्ति न शान्तिरस्ति
चित्रप्रदीप इव सोऽस्ति च नास्ति चैव ॥४८॥

हाथ में भिक्षा-पात्र लेकर, शिर मुँड़ाकर, अभिमान का परित्याग कर और काषाय वस्त्र पहनकर जो उत्तेजना के अधीन है, जिसको न धैर्य है न शान्ति वह चित्र-लिखित प्रदीप के समान (देखने में तो भिक्षु) है और (वास्तव में भिक्षु) नहीं है ॥४८॥

यो निःसृतश्च न च निःसृतकामरागः
काषायमुद्वहति यो न च निष्कषायः ।
पात्रं बिभर्ति च गुणैर्न च पात्रभूतो
लिङ्गं वहन्नपि स नैव गृही न भिक्षुः ॥४९॥

जो (घर से) निकल गया है किन्तु जिसका काम-राग नहीं निकला है, जो काषाय वस्त्र पहनता है किंतु जिसका कषाय (चित्त-मल) नष्ट नहीं हुआ है, जो (भिक्षा का) पात्र धारण करता है किंतु जो सद्गुणों का पात्र नहीं हुआ है वह (भिक्षु-) वेष धारण करता हुआ भी न गृहस्थ है न भिक्षु ॥४९॥

न न्याय्यमन्वयवतः परिगृह्य लिङ्गं
भूयो विमोक्तुमिति योऽपि हि मे विचारः ।
सोऽपि प्रणश्यति विचिन्त्य नृपप्रवीरां-
स्तान्ये तपोवनमपास्य गृहाण्यतीयुः ॥५०॥

कुलीन व्यक्ति के लिए भिक्षु-वेष ग्रहण करके फिर से छोड़ना उचित नहीं, यह जो मेरा विचार है वह भी नष्ट हो जाता है यह सोच-कर कि वे वीर नृपति तपोवन छोड़कर अपने घरों को लौट गये ॥५०॥

शाल्वाधिपो हि ससुतोऽपि तथाम्बरीषो
रामोऽन्ध एव स च सांकृतिरन्तिदेवः ।
चीराण्यपास्य दधिरे पुनरंशुकानि
छित्त्वा जटाश्च कुटिला मुकुटानि बभ्रुः ॥५१॥

पुत्र-सहित शाल्वराज, अम्बरीष, अन्ध राम और उस सांकृति अंति-देव ने वल्कल छोड़कर वस्त्र धारण किये और कुटिल जटाएँ काटकर मुकुट पहने ॥५१॥

तस्माद्भिक्षार्थं मम गुरुरितो यावदेव प्रयात-
स्त्यक्त्वा काषायं गृहमहमितस्तावदेव प्रयास्ये ।
पूज्यं लिङ्गं हि स्खलितमनसो बिभ्रतः क्लिष्टबुद्धे-
र्नामुत्रार्थः स्यादुपहतमतेर्नाप्ययं जीवलोकः ॥५२॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये नन्दविलापो नाम सप्तमः सर्गः ।

इसलिए ज्योंही मेरे गुरु यहाँ से भिक्षा के लिए निकलेंगे त्योंही काषाय छोड़कर मैं यहाँ से घर चला जाऊँगा; क्योंकि चञ्चल चित्त से पूज्य वेष धारण करने वाले पाप-बुद्धि का न परलोक बनेगा और उस हत-बुद्धि का न इहलोक बनेगा ॥५२॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "नन्द-विलाप"
नामक सप्तम सर्ग समाप्त ।

अष्टम सर्ग

स्त्री-विघ्न

अथ नन्दमधीरलोचनं गृहयानोत्सुकमुत्सुकोत्सुकं।
अभिगम्य शिवेन चक्षुषा श्रमणः कश्चिदुवाच मैत्रया ॥१॥

नन्द की आँखें चञ्चल थीं; घर जाने की उत्सुकता में वह अत्यन्त व्याकुल था। उसके समीप जाकर कल्याण-दृष्टि से देखते हुए किसी भिक्षु ने मैत्रीपूर्वक कहाः— ॥१॥

किमिदं मुखमश्रुदुर्दिनं हृदयस्थं विवृणोति ते तमः।
धृतिमेहि नियच्छ विक्रियां न हि बाष्पश्च शमश्च शोभते ॥२॥

"तुम्हारा यह अश्रु-प्लावित मुख तुम्हारे हृदय के अज्ञानान्धकार को प्रकट कर रहा है। धैर्य धारण करो, विकार को रोको; क्योंकि शान्ति और आँसू (एक साथ) शोभित नहीं होते ॥२॥

द्विविधा समुदेति वेदना नियतं चेतसि देह एव च।
श्रुतविध्युपचारकोविदा द्विविधा एव तयोश्चिकित्सकाः ॥३॥

निश्चय ही पीड़ा दो प्रकार की होती है—मानसिक और शारीरिक। उनके चिकित्सक भी दो प्रकार के होते हैं—शास्त्र जानने वाले और उपचार जाननेवाले ॥३॥

तदियं यदि कायिकी रुजा भिषजे तूर्णमनूनमुच्यतां।
विनिगुह्य हि रोगमातुरो नचिरात्तीव्रमनर्थमृच्छति ॥४॥

इसलिए यदि यह शारीरिक रोग है तो तुरंत ही वैद्य को पूरा पूरा

(हाल) बतला दो; क्योंकि रोग को छिपाकर रोगी व्यक्ति शीघ्र ही घोर विपत्ति में पड़ता है ॥४॥

अथ दुःखमिदं मनोमयं वद वक्ष्यामि यदत्र भेषजं ।
मनसो हि रजस्तमस्विनो भिषजोऽध्यात्मविदः परीक्षकाः ॥५॥

या यदि यह मानसिक दुःख है तो मुझ से कहो, मैं इसकी दवा बतलाऊँगा; क्योंकि रजस् और तमस् से युक्त चित्त के चिकित्सक होते हैं अध्यात्म जाननेवाले दार्शनिक ॥५॥

निखिलेन च सत्यमुच्यतां यदि वाच्यं मयि सौम्य मन्यसे ।
गतयो विविधा हि चेतसां बहुगुह्यानि महाकुलानि च ॥६॥

हे सौम्य, यदि मुझसे कहने योग्य समझते हो तो सब सच सच कहो; क्योंकि चित्त की गति विविध है, जिसमें बहुत कुछ गोपनीय होता है और बड़ी व्याकुलता होती है ॥६॥

इति तेन स चोदितस्तदा व्यवसायं प्रविवक्षुरात्मनः ।
अवलम्ब्य करे करेण तं प्रविवेशान्यतरद्वनान्तरं ॥७॥

उससे तब इस प्रकार प्रेरित होकर अपना निश्चय कहने की इच्छा से अपने हाथ से उसका हाथ पकड़कर वह दूसरे वनके दूसरे भाग में प्रविष्ट हुआ ॥७॥

अथ तत्र शुचौ लतागृहे कुसुमोद्गारिणि तौ निषेदतुः ।
मृदुभिर्मृदुमारुतेरितैरुपगूढाविव बालपल्लवैः ॥८॥

तब वहाँ पुष्पवर्षी पवित्र लता-मण्डप में वे दोनों बैठ गये और मन्द मन्द वायु से आन्दोलित कोमल बाल-पल्लवों ने उनका आलिङ्गन किया ॥८॥

६—पा० 'मदाकुलानि' ।

स जगाद ततश्चिकीर्षितं घननिश्वासगृहीतमन्तरा।
श्रुतवाग्विशदाय भिक्षवे विदुषा प्रव्रजितेन दुर्वचं ॥९॥

तब घनी साँसों के कारण बीच बीच में रुक रुक कर उसने शास्त्र और वाणी में निपुण उस भिक्षु से अपना निश्चय कहा, जो कि किसी विद्वान् भिक्षु के द्वारा कठिनाई से कहा जा सकता था ॥९॥

सदृशं यदि धर्मचारिणः सततं प्राणिषु मैत्रचेतसः
अधृतौ यदियं हितैषिता मयि ते स्यात्करुणात्मनः सतः ॥१०॥

"यह उचित ही है यदि धर्म का आचरण करने वाले, प्राणियों के प्रति सदा मैत्री-भाव रखनेवाले, आप कारुणिक मुझ अधीर के हितैषी हैं ॥१०॥

अत एव च मे विशेषतः प्रविवक्षा क्षमवादिनि त्वयि।
न हि भावमिमं चलात्मने कथयेयं ब्रुवतेऽप्यसाधवे॥११॥

इसलिए मैं विशेषतः आप उचित-वक्ता से कहना चाहता हूँ; क्योंकि चञ्चलात्मा और असाधु पुरुष से, चाहे वह वक्ता ही क्यों न हो (या पूछने पर भी), अपना यह भाव नहीं कह सकता ॥११॥

तदिदं शृणु मे समासतो न रमे धर्मविधावृते प्रियां।
गिरिसानुषु कामिनीमृते कृतरेता इव किंनरश्चरन् ॥१२॥

इसलिए मेरा यह भाव संक्षेप में सुनिये। प्रिया के बिना मैं धर्म में आनन्द नहीं पा रहा हूँ, जैसे पहाड़ की चोटियों पर विचरण करनेवाला काम से पीड़ित किन्नर अपनी कामिनी के बिना आनन्दित नहीं होता ॥१२॥

वनवाससुखात्पराङ्मुखः प्रयियासा गृहमेव येन मे।
न हि शर्म लभे तया विना नृपतिर्हीन इवोत्तमश्रिया ॥१३॥

मैं वनवास के सुख से पराङ्मुख हूँ, इसलिए मैं घर जाना चाहता

हूँ। क्योंकि उसके बिना मैं शान्ति नहीं पा रहा हूँ, जैसे कि राज्य-लक्ष्मी से रहित राजा को शान्ति नहीं मिलती है" ॥१३॥

अथ तस्य निशम्य तद्वचः प्रियभार्याभिमुखस्य शोचतः।
श्रमणः स शिरः प्रकम्पयन्निजगादात्मगतं शनैरिदं ॥१४॥

अपनी प्रिय भार्या की ओर उन्मुख होकर उस शोक करनेवाले का वह वचन सुनकर उस भिक्षु ने शिर कँपाते हुए धीरे धीरे अपने को ही यों कहाः— ॥१४॥

कृपणं बत यूथलालसो महतो व्याधभयाद्विनिःसृतः।
प्रविविक्षति वागुरां मृगश्चपलो गीतरवेण वञ्चितः ॥१५॥

"अहो! व्याध के महाभय से निकला हुआ चपल मृग अपने झुण्ड (में लौटने) की इच्छा करता है, किंतु गीत की ध्वनि से वञ्चित होकर फन्दे में प्रवेश करना चाहता है ॥१५॥

विहगः खलु जालसंवृतो हितकामेन जनेन मोक्षितः।
विचरन्फलपुष्पवद्वनं प्रविविक्षुः स्वयमेव पञ्जरं ॥१६॥

जाल में फँसा हुआ पक्षी हितैषी व्यक्ति के द्वारा मुक्त होकर फूलों और फलों से युक्त जंगल में विचरण करता हुआ स्वयं ही पिंजड़े में प्रवेश करना चाहता है ॥१६॥

कलभः करिणा खलूद्धृतो बहुपङ्काद्विषमान्नदीतलात्।
जलतर्षवशेन तां पुनः सरितं ग्राहवतीं तितीर्षति ॥१७॥

हाथी के द्वारा अत्यन्त पङ्किल और विषम नदी-तल से बाहर निकाला गया करि-शावक (हाथी का बच्चा) जल की तृष्णा से फिर उसी ग्राह-पूर्ण नदी में प्रवेश करना चाहता है ॥१७॥

शरणे सभुजंगमे स्वपन्प्रतिबुद्धेन परेण बोधितः।
तरुणः खलु जातविभ्रमः स्वयमुग्रं भुजगं जिघृक्षति ॥१८॥

सर्प-युक्त घर में सोया हुआ तरुण दूसरे जगे हुए व्यक्ति के द्वारा जगाया जाता है और वह (तरुण) घबड़ा कर स्वयं उस भीषण सर्प को पकड़ना चाहता है ॥१८॥

महता खलु जातवेदसा ज्वलितादुत्पतितो वनद्रुमात्।
पुनरिच्छति नीडतृष्णया पतितुं तत्र गतव्यथो द्विजः ॥१९॥

महा अग्नि से जलते हुए जंगल के वृक्ष पर से उड़ा हुआ पक्षी व्यथा-रहित हो कर (जलने की व्यथा को भूलकर) अपने घोंसले की तृष्णा से फिर वहीं जाना चाहता है ॥१९॥

अवशः खलु काममूर्छया प्रियया श्येनभयाद्विनाकृतः।
न धृतिं समुपैति न ह्रियं करुणं जीवति जीवजीवकः ॥२०॥

बाज के भय से अपनी प्रिया से अलग होकर जीवजीवक (पक्षी) काम की पीड़ा से असहाय हो जाता है, उसे न धैर्य होता है, न लज्जा होती है, वह दीनतापूर्वक जीवन धारण करता है ॥२०॥

अकृतात्मतया तृषान्वितो घृणया चैव धिया च वर्जितः।
अशनं खलु वान्तमात्मना कृपणः श्वा पुनरत्तुमिच्छति ॥२१॥

असंयतात्मा, तृष्णा-युक्त तथा घृणा एवं बुद्धि से रहित कृपण कुत्ता अपने ही उगले हुए भोजन को फिर खाना चाहता है" ॥२१॥

इति मन्मथशोककर्षितं तमनुध्याय मुहुर्निरीक्ष्य च ॥
श्रमणः स हिताभिकाङ्क्षया गुणवद्वाक्यमुवाच विप्रियं ॥२२॥

इस प्रकार काम-शोक से विह्वल (या क्षीण हुए) नन्द का खयाल

२२—कर्षित के लिए देखिये—"नियमैश्चोपवासैश्च कर्षयन् देहमात्मनः" म० भ० शल्य० चालीस २४।

करके उसकी ओर पुनः देखकर उस भिक्षु ने उसका हित करने की इच्छा से यह गुण-युक्त (हितकर) और अप्रिय वचन कहाः— ॥२२॥

अविचारयतः शुभाशुभं विषयेष्वेव निविष्टचेतसः।
उपपन्नमलब्धचक्षुषो न रतिः श्रेयसि चेद्भवेत्तव ॥२३॥

"तुम शुभ-अशुभ का विचार नहीं करते हो, तुम्हारा चित्त विषयों में ही आसक्त है, तुम्हें (प्रज्ञा-) चक्षु प्राप्त नहीं हुआ है, तब यदि तुम श्रेय में नहीं रमो तो यह स्वाभाविक ही है ॥२३॥

श्रवणे ग्रहणेऽथ धारणे परमार्थावगमे मनःशमे।
अविषक्तमतेश्चलात्मनो न हि धर्मेऽभिरतिर्विधीयते ॥२४॥

क्योंकि श्रवण ग्रहण और धारण करने में, परमार्थ को समझने में, एवं मानसिक शान्ति में जिस चञ्चलात्मा व्यक्ति की बुद्धि आसक्त नहीं है उसको धर्म में आनन्द नहीं मिलता है ॥२४॥

विषयेषु तु दोषदर्शिनः परितुष्टस्य शुचेरमानिनः।
शमकर्मसु युक्तचेतसः कृतबुद्धेर्न रतिर्न विद्यते ॥ २५ ॥

जो विषयों में दोष ही दोष देखता है, जो संतुष्ट पवित्र और मान से रहित है, जिसका चित्त शान्ति के कार्यों में लगा हुआ है उस बुद्धिमान् (या कृतसङ्कल्प, स्थिरबुद्धि) पुरुष को धर्म में आनन्द मिलेगा ही ॥२५॥

रमते तृषितो धनश्रिया रमते कामसुखेन बालिशः।
रमते प्रशमेन सज्जनः परिभोगान्परिभूय विद्यया ॥ २६॥

तृष्णावान् व्यक्ति को धन-सम्पत्ति में और मूर्ख को काम-सुख में आनन्द मिलता है; किंतु जो सज्जन है वह ज्ञान द्वारा भोगों (की इच्छा) को जीतकर शान्ति में रमण करता है ॥२६॥

अपि च प्रथितस्य धीमतः कुलजस्यार्चितलिङ्गधारिणः ।
सदृशी न गृहाय चेतना प्रणतिर्वायुवशाद्गिरेरिव ॥ २७ ॥

यशस्वी बुद्धिमान् कुलीन एवं पूज्य वेष धारण करनेवाले के लिए घर लौटने का विचार करना उचित नहीं है जैसे कि वायु के वेग से पर्वत का झुकना उचित नहीं है ॥२७॥

स्पृहयेत्परसंश्रिताय यः परिभूयात्मवशां स्वतन्त्रतां ।
उपशान्तिपथे शिवे स्थितः स्पृहयेद्दोषवते गृहाय सः ॥ २८ ॥

जो अपने वशमें रहने वाली स्वतंत्रता का तिरस्कार करके दूसरे का आश्रित होना चाहे वह मङ्गलमय शान्ति-मार्ग पर रह कर दोषों से भरे घर की अभिलाषा करे ॥२८॥

व्यसनाभिहतो यथा विशेत्परिमुक्तः पुनरेव बन्धनं ।
समुपेत्य वनं तथा पुनर्गृहसंज्ञं मृगयेत बन्धनं ॥ २९ ॥

जिस प्रकार (बन्धन से) मुक्त होने के बाद मनुष्य विपत्ति में पड़ कर पुनः बन्धन (जेल) में प्रवेश करता है उसी प्रकार वनका आश्रय लेकर आदमी पुनः घर नामक बन्धन की खोज कर सकता है ॥२९॥

पुरुषश्च विहाय यः कलिं पुनरिच्छेत्कलिमेव सेवितुं ।
स विहाय भजेत बालिशः कलिभूतामजितेन्द्रियः प्रियां ॥ ३० ॥

जो मनुष्य कलि (पाप) को छोड़कर फिर कलि का ही सेवन करना चाहे वह अजितेन्द्रिय मूर्ख कलि-स्वरूप प्रिया का परित्याग करके फिर उसी का सेवन करे ॥३०॥

सविषा इव संश्रिता लताः परिमृष्टा इव सोरगा गुहाः ।
विवृता इव चासयो धृता व्यसनान्ता हि भवन्ति योषितः ॥ ३१ ॥

जैसे विष-युक्त लताओं का स्पर्श करने से, सर्प-युक्त गुफाओं को

(निवास के लिए) साफ करने से, और खुली तलवार को पकड़ने से विपत्ति होती है, वैसे ही स्त्रियों (के सम्पर्क) का परिणाम विपत्ति है ॥३१॥

प्रमदाः समदा मदप्रदाः प्रमदा वीतमदा भयप्रदाः।
इति दोषभयावहाश्च ताः कथमर्हन्ति निषेवनं नु ताः॥ ३२॥

मद-युक्त प्रमदाएँ मद पैदा करती हैं मद के बीतने पर वे भयङ्कर हो जाती हैं। इस प्रकार दोष और भय उत्पन्न करनेवाली उन स्त्रियों का कैसे सेवन किया जाय ? ॥३२॥

स्वजनः स्वजनेन भिद्यते सुहृदश्चापि सुहृज्जनेन यत्।
परदोषविचक्षणाः शठास्तदनार्याः प्रचरन्ति योषितः॥ ३३॥

स्वजन स्वजन से और मित्र मित्र से जो भिन्न (पृथक्) होता है सो दूसरों के दोष देखने में निपुण, अनार्य एवं दुष्ट स्त्रियाँ ही करती हैं ॥३३॥

कुलजाः कृपणीभवन्ति यद्यदयुक्तं प्रचरन्ति साहसं।
प्रविशन्ति च यच्चमूमुखं रभसास्तत्र निमित्तमङ्गनाः॥ ३४॥

कुलीन व्यक्ति दीन होकर जो जो अनुचित और दुस्साहस के कार्य करते हैं तथा वेगपूर्वक (विपक्षी) सेना के सामने चले जाते हैं उसका कारण स्त्री है ॥३४॥

वचनेन हरन्ति वल्गुना निशितेन प्रहरन्ति चेतसा।
मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदये हालहलं महद्विषं॥ ३५॥

स्त्रियाँ मीठी बोली से आकृष्ट करती हैं और तीक्ष्ण चित्त से प्रहार करती हैं। उनके वचन में मधु रहता है और हृदय में हलाहल नामक महाविष ॥३५॥

प्रदहन्दहनोऽपि गृह्यते विशरीरः पवनोऽपि गृह्यते ।
कुपितो भुजगोऽपि गृह्यते प्रमदानां तु मनो न गृह्यते ॥ ३६ ॥

जलती हुई अग्नि को भी पकड़ सकते हैं, शरीर-रहित हवा को भी पकड़ सकते हैं और क्रुद्ध सर्प को भी पकड़ सकते हैं, किंतु स्त्रियों के मन को नहीं पकड़ सकते ॥३६॥

न वपुर्विमृशन्ति न श्रियं न मतिं नापि कुलं न विक्रमम् ।
प्रहरन्त्यविशेषतः स्त्रियः सरितो ग्राहकुलाकुला इव ॥ ३७ ॥

वे न रूप का, न श्री का, न बुद्धि का, न कुल का और न पराक्रम का ही विचार करती हैं; ग्राहपूर्ण सरिताओं के समान स्त्रियाँ विना भेद-भाव के (सब पर) प्रहार करती हैं ॥३७॥

न वचो मधुरं न लालनं स्मरति स्त्री न च सौहृदं क्वचित् ।
कलिता वनितैव चञ्चला तदिहारिष्विव नावलम्ब्यते ॥ ३८ ॥

स्त्री मीठी बोली, लालन-पालन या मित्रता को भी कहीं याद नहीं रखती। परीक्षित स्त्री भी चञ्चल होती है। इसलिए इस संसार में शत्रुओं के समान उनपर भरोसा नहीं करना चाहिए ॥३८॥

अददत्सु भवन्ति नर्मदाः प्रददत्सु प्रविशन्ति विभ्रमं ।
प्रणतेषु भवन्ति गर्विताः प्रमदास्तृप्ततराश्च मानिषु ॥ ३९ ॥

स्त्रियाँ देनेवालों के साथ परिहास करती हैं और नहीं देनेवालों के साथ नखरा (चञ्चलता) करती हैं। नम्र होने वालों के प्रति मान करती हैं और मान करनेवालों के प्रति संतुष्ट होती हैं ॥३९॥

गुणवत्सु चरन्ति भर्तृवद्गुणहीनेषु चरन्ति पुत्रवत् ।
धनवत्सु चरन्ति तृष्णया धनहीनेषु चरन्त्यवज्ञया ॥ ४० ॥

गुणवानों के साथ स्वामी के समान और गुण-हीनों के साथ पुत्र के

समान आचरण करती हैं। धनवानों के साथ तृष्णापूर्वक और धन-हीनों के साथ अपमानपूर्वक व्यवहार करती हैं ॥४०॥

विषयाद्विषयान्तरं गता प्रचरत्येव यथा हृतापि गौः।
अनवेक्षितपूर्वसौहृदा रमतेऽन्यत्र गता तथाङ्गना ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार हरण की गई (चुराई गई) गाय एक भूमि से दूसरी भूमि में जाकर भी चरती ही है उसी प्रकार स्त्री अन्यत्र जाकर भी पहले की मित्रता को भूलकर (दूसरे के साथ) रमण करती है ॥४१॥

प्रविशन्त्यपि हि स्त्रियश्चितामनुबध्नन्त्यपि मुक्तजीविताः।
अपि बिभ्रति चैव यन्त्रणा न तु भावेन वहन्ति सौहृदं ॥ ४२ ॥

स्त्रियाँ (पति की) चिता में भी प्रवेश करती हैं, जीवन (का भय) छोड़कर भी अनुसरण करती हैं। कष्ट भी झेलती हैं, किंतु हृदय से मित्रता नहीं रखती हैं ॥४२॥

रमयन्ति पतीन कथंचन प्रमदा याः पतिदेवताः क्वचित्।
चलचित्ततया सहस्रशो रमयन्ते हृदयं स्वमेव ताः ॥ ४३ ॥

जो स्त्रियाँ अपने अपने पति को देवता समझ कर उन्हें कहीं किसी प्रकार प्रसन्न करती हैं वे अपने चित्त की चञ्चलता के कारण अपने ही हृदय को हजारों बार प्रसन्न करती हैं ॥४३॥

श्वपचं किल सेनजित्सुता चकमे मीनरिपुं कुमुद्वती।
मृगराजमथो बृहद्रथा प्रमदानामगतिर्न विद्यते ॥ ४४ ॥

सेनजित् की पुत्री ने चण्डाल की, कुमुद्वती ने मछली के शत्रु (मछुए) की और बृहद्रथा ने सिंह की कामना की; स्त्रियों के लिए अगम्य कुछ भी नहीं है ॥४४॥

४२—पा० 'चैव' के स्थान में 'नैव'।

कुरुहैहयवृष्णिवंशजा बहुमायाकवचोऽथ शम्बरः ।
मुनिरुग्रतपाश्च गौतमः समवापुर्वनितोद्धतं रजः ॥ ४५ ॥

कुरुवंशी, हैहयवंशी, वृष्णिवंशी, अत्यन्त मायावी शम्बर और उग्र तपस्वी मुनि गौतम स्त्री-सम्बन्धी रज से दूषित हुए ॥४५॥

अकृतज्ञमनार्यमस्थिरं वनितानामिदमीदृशं मनः ।
कथमर्हति तासु पण्डितो हृदयं सञ्जयितुं चलात्मसु ॥ ४६ ॥

स्त्रियों का यह ऐसा मन अकृतज्ञ अनार्य और अस्थिर है; बुद्धिमान् व्यक्ति उन चञ्चलात्माओं में अपना हृदय कैसे लगावे ? ॥४६॥

अथ सूक्ष्ममति द्वयाशिवं लघु तासां हृदयं न पश्यसि ।
किमु कायमसद्गृहं स्रवद्वनितानामशुचि न पश्यसि ॥ ४७ ॥

यदि तुम स्त्रियों के सूक्ष्म और हलके हृदय (चित्त) को, जो रजस् और तमस् इन दो के कारण अमङ्गलमय है, नहीं देख रहे हो तो क्या उनके अपवित्र शरीर को भी, जो बुराइयों (गन्दगियों) का झरता हुआ घर है, नहीं देख रहे हो ? ॥४७॥

यदहन्यहनि प्रधावनैर्वसनैश्चाभरणैश्च संस्कृतं ।
अशुभं तमसावृतेक्षणः शुभतो गच्छसि नावगच्छसि ॥ ४८ ॥

प्रतिदिन प्रक्षालन वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित अशुभ (शरीर) को, अज्ञानरूपी अन्धकार से अपनी दृष्टि ढकी होने के कारण, शुभ समझ रहे हो—इस (तथ्य) से अनभिज्ञ हो ॥४८॥

अथवा समवैषि तत्तनूमशुभां त्वं न तु संविदस्ति ते ।
सुरभिं विदधासि हि क्रियामशुचेस्तत्प्रभवस्य शान्तये ॥ ४९ ॥

या यदि तुम उनके शरीर को अशुभ (अपवित्र) समझते हो तो

(मैं कहूँगा कि) तुमको ज्ञान नहीं है; क्योंकि उनसे उत्पन्न होने वाली गन्दगी को दूर करने के लिए तुम उनके लिए सुगन्धि और सौन्दर्य के कार्य करते हो ॥४९॥

अनुलेपनमञ्जनं स्रजो मणिमुक्तातपनीयमंशुकं ।
यदि साधु किमत्र योषितां सहजं तासु विचीयतां शुचि ॥ ५० ॥

यदि अनुलेप अञ्जन मालाएँ मणि-मुक्ताएँ सुवर्ण और वस्त्र (का व्यवहार) ठीक है तो इनमें से स्त्रियों का क्या है ? खोज करो कि उनमें कौन सी स्वाभाविक पवित्र वस्तु है ॥५०॥

मलपङ्कधरा दिगम्बरा प्रकृतिस्थैर्नखदन्तरोमभिः ।
यदि सा तव सुन्दरी भवेन्नियतं तेऽद्य न सुन्दरी भवेत् ॥ ५१ ॥

यदि तुम्हारी वह सुन्दरी मलरूपी कीचड़ से युक्त और वस्त्र-रहित हो जाय और उसके नख दाँत व रोम स्वाभाविक अवस्था में हो जायँ तो निश्चय ही वह आज तुम्हें सुन्दर नहीं लगेगी ॥५१॥

स्रवतीमशुचिं स्पृशेच्च कः सघृणो जर्जरभाण्डवत्स्त्रियं ।
यदि केवलया त्वचावृता न भवेन्मक्षिकपत्रमात्रया ॥ ५२ ॥

कौन घृणावान् व्यक्ति जीर्ण-शीर्ण पात्र के समान झरती हुई अपवित्र स्त्री का स्पर्श करेगा, यदि वह केवल मक्षिका के पङ्ख के समान पतली त्वचा से आवृत न हो ? ॥५२॥

त्वचवेष्टितमस्थिपञ्जरं यदि कायं समवैषि योषितां ।
मदनेन च कृष्यसे बलादघृणः खल्वधृतिश्च मन्मथः ॥ ५३ ॥

यदि स्त्रियों के शरीर को त्वचा से आच्छादित कङ्काल समझते हो

और तो भी काम द्वारा बलात् खींचे जा रहे हो तो निश्चय ही वह काम घृणा से रहित और अधीर है ॥५३॥

शुभतामशुभेषु कल्पयन्नखदन्तत्वचकेशरोमसु ।
अविचक्षण किं न पश्यसि प्रकृतिं च प्रभवं च योषितां ॥ ५४ ॥

तुम नख दाँत केश, व रोम, इन अपवित्र वस्तुओं में पवित्रता की कल्पना कर रहे हो, हे अज्ञानी, क्या स्त्रियों की उत्पत्ति और स्वभाव को नहीं देखते हो ? ॥५४॥

तदवेत्य मनःशरीरयोर्वनिता दोषवतीर्विशेषतः ।
चपलं भवनोत्सुकं मनः प्रतिसंख्यानबलेन वार्यतां ॥ ५५ ॥

इसलिए स्त्रियों को विशेषतः मन और शरीर के दोषों से युक्त जानकर घर जाने के लिए उत्सुक अपने चपल मन को ज्ञान-बल से रोको ॥५५॥

श्रुतवान्मतिमान् कुलोद्गतः परमस्य प्रशमस्य भाजनं ।
उपगम्य यथातथा पुनर्न हि भेत्तुं नियमं त्वमर्हसि ॥ ५६ ॥

तुम विद्वान् बुद्धिमान् कुलीन और परम शान्ति के पात्र हो। जैसे-तैसे भी नियम ग्रहण करके पुनः उसे तोड़ना तुम्हारे लिए उचित नहीं है ॥५६॥

अभिजनमहतो मनस्विनः प्रिययशसो बहुमानमिच्छतः ।
निधनमपि वरं स्थिरात्मनश्च्युतविनयस्य न चैव जीवितं ॥ ५७ ॥

जिसका कुल महान् है, जो मनस्वी है, जिसको अपना यश प्यारा है और जो सम्मान चाहता है उसके लिए (नियम में) स्थिर रह कर मर जाना अच्छा है न कि नियम से च्युत होकर जीवन धारण करना ॥५७॥

बद्ध्वा यथा हि कवचं प्रगृहीतचापो
निन्द्यो भवत्यपसृतः समराद्रथस्थः ।
भैक्षाकमभ्युपगतः परिगृह्य लिङ्गं
निन्द्यस्तथा भवति कामहृतेन्द्रियाश्वः ॥ ५८ ॥

जिस प्रकार कवच पहनकर और धनुष लेकर रथ पर चढ़ा हुआ आदमी युद्ध से भागकर निन्दा प्राप्त करता है उसी प्रकार, भिक्षु-वेष धारण करके भिक्षु-जीवन में प्रवेश करने पर जिसके इन्द्रिय रूपी घोड़े काम द्वारा बहकाये जाते हैं वह निन्दा का पात्र होता है ॥५८॥

हास्यो यथा च परमाभरणाम्बरस्रग्
भैक्षं चरन्धृतधनुश्चलचित्रमौलिः ।
वैरूप्यमभ्युपगतः परपिण्डभोजी
हास्यस्तथा गृहसुखाभिमुखः सतृष्णः ॥ ५९ ॥

जिस प्रकार उत्तम आभूषण वस्त्र मालाएँ धारण करनेवाला और चित्र-विचित्र मुकुट चमकानेवाला व्यक्ति यदि भीख माँगता चले तो वह हास्यास्पद होता है उसी प्रकार भिक्षु-वेष धारण करके भिक्षा का अन्न खानेवाला आदमी यदि तृष्णा-युक्त होकर घर के सुखों की अभिलाषा करे तो वह हास्यास्पद होता है ।।५९॥

यथा स्वन्नं भुक्त्वा परमशयनीयेऽपि शयितो
वराहो निर्मुक्तः पुनरशुचि धावेत्परिचितं ।
तथा श्रेयः शृण्वन्प्रशमसुखमास्वाद्य गुणवद्
वनं शान्तं हित्वा गृहमभिलषेत्कामतृषितः ॥ ६० ॥

जिस प्रकार उत्तम अन्न खाकर और उत्तम पलंग पर सोकर भी वराह (सूअर) छूटने पर अपनी परिचित गन्दगी की ओर ही दौड़ता है

उसी प्रकार श्रेय को सुनकर और उत्कृष्ट शान्ति-सुख का आस्वादन करके काम-भोगों की तृष्णा से युक्त मनुष्य शान्त वन को छोड़ कर घर (जाने) की अभिलाषा करता है ॥६०॥

यथोल्का हस्तस्था दहति पवनप्रेरितशिखा
यथा पादाक्रान्तो दशति भुजगः क्रोधरभसः।
यथा हन्ति व्याघ्रः शिशुरपि गृहीतो गृहगतः
तथा स्त्रीसंसर्गो बहुविधमनर्थाय भवति ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार हाथ की उल्का (मसाल) हवा से प्रज्वलित होकर (हाथ को) जलाती है, जिस प्रकार पाँव से रौंदा गया क्रुद्ध सर्प डसता है, जिस प्रकार घर में पकड़ा गया (या पकड़कर घर में रखा गया) बाघ शिशु (बच्चा) होने पर भी हत्या करता है उसी प्रकार स्त्रियों का संसर्ग बहुतेरे अनर्थों का कारण है ॥६१॥

तद्विज्ञाय मनःशरीरनियतान्नारीषु दोषानिमान्
मत्वा कामसुखं नदीजलचलं क्लेशाय शोकाय च।
दृष्ट्वा दुर्बलमामपात्रसदृशं मृत्यूपसृष्टं जगत्
निर्मोक्षाय कुरुष्व बुद्धिमतुलामुत्कण्ठितुं नार्हसि ॥६२॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये स्त्रीविघातो नामाष्टमः सर्गः।

इसलिए स्त्रियों में मन और शरीर के इन दोनों दोषों को जानकर, कामसुख को नदी के जल के समान अस्थिर तथा क्लेश-प्रद और शोकप्रद समझकर, संसार को मृत्यु से ग्रस्त तथा कच्चे बर्तन के समान दुर्बल (क्षण-भङ्गुर) देखकर अपनी अनुपम बुद्धि को मोक्ष में लगाओ। तुम्हें (घर जाने की) उत्कण्ठा नहीं करनी चाहिए ॥६२॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "स्त्री विघ्न"
नामक अष्टम सर्ग समाप्त।

नवम सर्ग

अभिमान की निन्दा

अथैवमुक्तोऽपि स तेन भिक्षुणा जगाम नैवोपशमं प्रियां प्रति।
तथा हि तामेव तदा स चिन्तयन्न तस्य शुश्राव विसंज्ञवद्वचः ॥१॥

उस भिक्षु के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर भी अपनी प्रिया के विषय में उसे शान्ति नहीं मिली। उस समय वह अपनी प्रिया की ही चिन्ता करता रहा और बेहोश व्यक्ति के समान उसका वचन नहीं सुना ॥१॥

यथा हि वैद्यस्य चिकीर्षतः शिवं वचो न गृह्णाति मुमूर्षुरातुरः।
तथैव मत्तो बलरूपयौवनैर्हितं न जग्राह स तस्य तद्वचः ॥२॥

जिस प्रकार मरणासन्न रोगी हितैषी वैद्य की बात नहीं सुनता है, उसी प्रकार बल रूप और यौवन से मत्त होने के कारण उसने उसके उस हितकारी वचन को ग्रहण नहीं किया ॥२॥

न चात्र चित्रं यदि रागपाप्मना मनोऽभिभूयेत तमोवृतात्मनः।
नरस्य पाप्मा हि तदा निवर्तते यदा भवत्यन्तगतं तमस्तनु ॥३॥

इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि तमोवृत (अज्ञानी) का मन रागरूपी दोष से अभिभूत होता है। मनुष्य का यह दोष उस समय निवृत्त होता है जब कि उसका तम (अज्ञान) क्षीण हो जाता है ॥३॥

ततस्तथाक्षिप्तमवेक्ष्य तं तदा बलेन रूपेण च यौवनेन च।
गृहप्रयाणं प्रति च व्यवस्थितं शशास नन्दं श्रमणः स शान्तये ॥४॥

तब उस समय उसको बल रूप और यौवन से मत्त तथा घर जाने

के लिए स्थिर (कृतनिश्चय) देखकर उस भिक्षु ने उसकी शान्ति के लिए कहाः— ॥४॥

बलं च रूपं च नवं च यौवनं तथावगच्छामि यथावगच्छसि ।
अहं त्विदं ते त्रयमव्यवस्थितं यथावबुद्धो न तथावबुध्यसे ॥५॥

"बल रूप और नवयौवन को जिस प्रकार तुम समझ रहे हो वह मैं समझता हूँ; किंतु मैं तुम्हारे इन तीनों को जिस प्रकार अस्थिर समझ रहा हूँ वह तुम नहीं समझते हो ॥५॥

इदं हि रोगायतनं जरावशं नदीतटानोकहवच्चलाचलं ।
न वेत्सि देहं जलफेनदुर्बलं बलस्थतामात्मनि येन मन्यसे ॥६॥

यह शरीर रोगों का घर, जरा के वशीभूत, नदी-तीर-वर्ती वृक्ष के समान चलाचल और जल के फेन के समान दुर्बल है, यह तुम नहीं जानते हो और इसीलिए अपने बल को स्थायी समझ रहे हो ॥६॥

यदान्नपानासनयानकर्मणामसेवनादप्यतिसेवनादपि ।
शरीरमासन्नविपत्ति दृश्यते बलेऽभिमानस्तव केन हेतुना ॥७॥

जब कि खाना पीना बैठना चलना, इन कर्मों का सेवन नहीं करने से या अतिसेवन करने से शरीर का विपत्ति-ग्रस्त होना देखा जाता है, तब क्यों तुम बल का अभिमान करते हो ? ॥७॥

हिमातपव्याधिजराक्षुदादिभिर्यदाप्यनर्थैरुपमीयते जगत् ।
जलं शुचौ मास इवार्करश्मिभिः क्षयं व्रजन् किं बलदृप्त मन्यसे ॥८॥

जब सर्दी गर्मी रोग बुढ़ापा भूख आदि अनर्थों से यह जगत् पीड़ित हो रहा है, तब जेठ मास में सूर्य की किरणों से जल के समान क्षीण होते हुए, हे बलाभिमानी, क्या सोच रहे हो ? ॥८॥

त्वगस्थिमांसक्षतजात्मकं यदा शरीरमाहारवशेन तिष्ठति ।
अजस्रमार्तं सततप्रतिक्रियं बलान्वितोऽस्मीति कथं विहन्यसे ॥९॥

जब त्वचा हड्डी मांस और रक्त का बना हुआ शरीर आहार के वशीभूत, निरन्तर पीड़ित और सदा (भूख रोग आदि के) प्रतिकार में लगा हुआ है, तब 'मैं बलवान् हूँ' ऐसी कल्पना क्यों कर रहे हो ? ॥९॥

यथा घटं मृन्मयमाममाश्रितो नरस्तितीर्षेत्क्षुभितं महार्णवं ।
समुच्छ्रयं तद्वदसारमुद्वहन्बलं व्यवस्येद्विषयार्थमुद्यतः ॥१०॥

जब मिट्टी के कच्चे घड़े का सहारा लेकर मनुष्य क्षुब्ध महासागर को पार करना चाहे, तब उसी प्रकार असार शरीर (धातुओं के समवाय) को धारण करता हुआ, विषय-भोग के लिए उद्यत मनुष्य अपने को बलवान् (समर्थ) समझे ॥१०॥

शरीरमामादपि मृन्मयाद्घटा-
दिदं तु निःसारतमं मतं मम ।
चिरं हि तिष्ठेद्विधिवद्धृतो घटः
समुच्छ्रयोऽयं सुधृतोऽपि भिद्यते ॥११॥

यह शरीर मिट्टी के कच्चे घड़े से भी असार है, ऐसा मैं समझता हूँ; क्योंकि विधिपूर्वक रखा जाने पर घड़ा चिर काल तक रहता है किन्तु यह शरीर अच्छी तरह रखा जाने पर भी नष्ट हो जाता है ॥११॥

यदाम्बुभूवाय्वनलाश्च धातवः सदा विरुद्धा विषमा इवोरगाः ।
भवन्त्यनर्थाय शरीरमाश्रिताः कथं बलं रोगविधो व्यवस्यसि ॥१२॥

जब पृथ्वी जल अनल अनिल, ये धातु शरीर में आश्रय पाकर विषम सर्पों के समान सदा एक-दूसरे के विरोधी होते हैं और अनर्थ

उत्पन्न करते हैं तब व्याधिधर्मा होने पर क्यों अपने को बलवान् समझ रहे हो? ॥१२॥

प्रयान्ति मन्त्रैः प्रशमं भुजंगमा न मन्त्रसाध्यास्तु भवन्ति धातवः।
क्वचिच्च कंचिच्च दशन्ति पन्नगाः सदा च सर्वं च तुदन्ति धातवः॥१३॥

मंत्रों से सर्प शान्त हो जाते हैं, किंतु मंत्रों से (शरीर के) धातुओं को वश में नहीं कर सकते। कहीं कहीं और किसी किसी को ही सर्प डसते हैं, किंतु ये धातु सदा सब को पीड़ित करते रहते हैं ॥१३॥

इदं हि शय्यासनपानभोजनैर्गुणैः शरीरं चिरमप्यवेक्षितं।
न मर्षयत्येकमपि व्यतिक्रमं यतो महाशीविषवत्प्रकुप्यति ॥१४॥

सोना, बैठना, खाना, पीना इन कार्यों से चिरकाल तक पोषित होने पर भी यह शरीर एक भी व्यतिक्रम (गड़बड़ी) को नहीं सहता है जिसके होने पर (पाँव से रौंदे गये) विषधर सर्प के समान यह कुपित हो जाता है ॥१४॥

यदा हिमार्तो ज्वलनं निषेवते
हिमं निदाघाभिहतोऽभिकाङ्क्षति।
क्षुधान्वितोऽन्नं सलिलं तृषान्वितो
बलं कुतः किं च कथं च कस्य च ॥१५॥

जब कि हिम से पीड़ित व्यक्ति अग्नि का सेवन करता है, गर्मी से पीड़ित व्यक्ति हिम (शीतलता) की आकांक्षा करता है, भूखा भोजन चाहता है और प्यासा पानी, तब बल कहाँ है, क्या है, कैसे है और किसका है? ॥१५॥

तदेवमाज्ञाय शरीरमातुरं बलान्वितोऽस्मीति न मन्तुमर्हसि।
असारमस्वन्तमनिश्चितं जगज्जगत्यनित्ये बलमव्यवस्थितं ॥१६॥

इसलिए शरीर को पीड़ित जानकर "मैं बलवान् हूँ" ऐसा तुम्हें

नहीं समझना चाहिए। जगत् असार अनिश्चित और बुरा परिणाम-वाला है; अनित्य जगत् में बल अस्थिर है ॥१६॥

क्व कार्तवीर्यस्य बलाभिमानिनः सहस्रबाहोर्बलमर्जुनस्य तत् ।
चकर्त बाहून्युधि यस्य भार्गवो महान्ति शृङ्गाण्यशनिर्गिरेरिव ॥१७॥

बलका अभिमान करने वाले सहस्र भुजाओं वाले कार्तवीर्य अर्जुन का वह बल कहाँ है? परशुराम ने युद्ध में उसकी बाहुओं को वैसे ही काट डाला, जैसे कि वज्र पर्वत की बड़ी बड़ी चोटियों को काटता है ॥१७॥

क्व तद्बलं कंसविकर्षिणो हरेस्तुरङ्गराजस्य पुटावभेदिनः ।
यमेकबाणेन निजघ्निवान् जराः क्रमागता रूपमिवोत्तमं जरा ॥१८॥

कंस की हत्या करनेवाले तथा अश्व-राज (केशी) के मुख को विदीर्ण करनेवाले कृष्ण का वह बल कहाँ है? जरा (नामक व्याध) ने एक ही बाण से उसे मार डाला, जैसे क्रम से आई हुई वृद्धावस्था उत्तमरूप की हत्या करती है ॥१८॥

दितेः सुतस्यामररोषकारिणश्चमूरुचेर्वा नमुचेः क तद्बलं ।
यमाहवे क्रुद्धमिवान्तकं स्थितं जघान फेनावयवेन वासवः ॥१९॥

देवों को क्रुद्ध करनेवाले युद्ध-प्रिय नमुचि दैत्य का वह बल कहाँ है? युद्ध में वह क्रुद्ध यम के समान खड़ा था और इन्द्र ने (पानी के) फेन से उसे मार डाला ॥१९॥

बलं कुरूणां क च तत्तदाभवद्
युधि ज्वलित्वा तरसौजसा च ये ।
समित्समिद्धा ज्वलना इवाध्वरे
हतासवो भस्मनि पर्यवस्थिताः ॥२०॥

कौरवों का वह बल उस समय कहाँ चला गया जब कि वे युद्ध में

पराक्रम एवं वीरतापूर्वक प्रज्वलित होकर, यज्ञ में लकड़ियों से प्रज्वलित अग्नि के समान, निष्प्राण होकर भस्मसात् हो गये ? ॥२०॥

अतो विदित्वा बलवीर्यमानिनां बलान्वितानामवमर्दितं बलं ।
जगज्जरामृत्युवशं विचारयन्बलेऽभिमानं न विधातुमर्हसि ॥२१॥

अतः बल एवं वीर्य का अभिमान करनेवाले बलवानों के बल को चूर्ण हुआ जानकर और जगत् को जरा एवं मृत्यु के वशीभूत समझ कर तुम्हें बल का अभिमान नहीं करना चाहिए ॥२१॥

बलं महद्वा यदि वा न मन्यसे कुरुष्व युद्धं सह तावदिन्द्रियैः ।
जयश्च ते ऽत्रास्ति महच्च ते बलं पराजयश्चेद्वितथं च ते बलं ॥२२॥

यदि तुम अपने बल को महान् समझते हो या अन्यथा, तो (इसकी परीक्षा के लिए) अपने इन्द्रियों से युद्ध करो, यदि इसमें तुम्हारी जीत होती है तो तुम्हारा बल महान् है, यदि पराजय होता है तो तुम्हारा बल व्यर्थ है ॥२२॥

तथा हि वीराः पुरुषा न ते मता
जयन्ति ये साश्वरथद्विपानरीं
यथा मता वीरतरा मनीषिणो
जयन्ति लोलानि षडिन्द्रियाणि ये ॥२३॥

क्योंकि वे पुरुष, जो घोड़ों रथों और हाथियों से युक्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं, उतने वीर नहीं समझे जाते हैं जितने वीर कि वे मनीषी समझे जाते हैं, जो अपने छः चञ्चल इन्द्रियों को जीत लेते हैं ॥२३॥

अहं वपुष्मानिति यच्च मन्यसे विचक्षणं नैतदिदं च गृह्यतां।
क्व तद्वपुः सा च वपुष्मती तनुर्गदस्य शाम्बस्य च सारणस्य च॥

"मैं रूपवान् हूँ" तुम्हारी यह समझ ठीक नहीं है, यह तुम मान लो। गद शाम्ब और सारण का वह रूप और रूपवान् शरीर कहाँ है? ॥२४॥

यथा मयूरश्चलचित्रचन्द्रको बिभर्ति रूपं गुणवत्स्वभावतः।
शरीरसंस्कारगुणादृते तथा बिभर्षि रूपं यदि रूपवानसि॥२५॥

जिस प्रकार चञ्चल चित्र-विचित्र चन्द्रक (नेत्राकार चिह्न) वाला मयूर स्वभाव से ही उत्कृष्ट रूप धारण करता है, उसी प्रकार शरीर का संस्कार किये विना ही यदि तुम (उत्कृष्ट, स्वाभाविक) रूप धारण करते हो तो तुम रूपवान् हो॥२५॥

यदि प्रतीपं वृणुयान्न वाससा न शौचकाले यदि संस्पृशेदपः।
मृजाविशेषं यदि नाददीत वा वपुर्वपुष्मन्वद कीदृशं भवेत्॥२६॥

यदि प्रतिकूल (वीभत्स स्थान) को वस्त्र से न ढके, यदि शौचकाल में जल का स्पर्श न करे, या यदि सफाई-सजावट न करे तो हे रूपवान्, कहो, वह रूप कैसा हो जायगा? ॥२६॥

नवं वयश्चात्मगतं निशाम्य यद्गृहोन्मुखं ते विषयाप्तये मनः।
नियच्छ तच्छैलनदीरयोपमं द्रुतं हि गच्छत्यनिवर्ति यौवनं॥२७॥

अपनी नई वयस को देखकर तुम्हारा मन विषय-भोगों की प्राप्ति के लिए घर की ओर लगा हुआ है, सो पहाड़ी नदी के समान वेगवान् उस मनको रोको; क्योंकि कभी नहीं लौटने वाला यौवन तेजी से जा रहा है॥२७॥

२४—पा० 'शाम्ब' के स्थान में 'साम्य'।

ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः ।
गतं गतं नैव तु संनिवर्तते जलं नदीनां च नृणां च यौवनं ॥२८॥

बीता हुआ ऋतु पलटता है, क्षय को प्राप्त हुआ चन्द्रमा फिर आता है, किंतु नदियों का जल और मनुष्यों का यौवन जाकर चला ही जाता है, लौटता नहीं है ॥२८॥

विवर्णितश्मश्रु वलीविकुञ्चितं विशीर्णदन्तं शिथिलभ्रु निष्प्रभं ।
यदा मुखं द्रक्ष्यसि जर्जरं तदा जराभिभूतो विमदो भविष्यसि ॥२९॥

जब तुम देखोगे कि तुम्हारे मुख की मूछ-दाढ़ी विवर्ण (सफेद) हो गई है, मुख पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं, दाँत टूट गए हैं, भौंहें शिथिल हो गई हैं, मुख निष्प्रभ और जर्जर हो गया है, तब जरा से अभिभूत होकर तुम मद-रहित हो जाओगे ॥२९॥

निषेव्य पानं मदनीयमुत्तमं निशाविवासेषु चिराद्विमाद्यति ।
नरस्तु मत्तो बलरूपयौवनैर्न कश्चिदप्राप्य जरां विमाद्यति ॥३०॥

आदमी उत्तम मादक पान-द्रव्य का सेवन करके रात्रि के बीतने पर बहुत देर के बाद मद से मुक्त हो जाता है; किंतु बल रूप और यौवन से मत्त कोई भी मनुष्य बुढ़ापे को प्राप्त हुए विना मद से मुक्त नहीं होता है ॥३०॥

यथेक्षुरत्यन्तरसप्रपीडितो भुवि प्रविद्धो दहनाय शुष्यते ।
तथा जरायन्त्रनिपीडिता तनुर्निपीतसारा मरणाय तिष्ठति ॥३१॥

जिस प्रकार सब रस निचोड़ लिये जाने पर ऊँख पृथ्वी पर फेंक दिया जाता है और जलावन के लिये सूखता रहता है उसी प्रकार जरा-

३०—पा० "निशाविवासे सुचिरा०" ।

रूपी यन्त्र में दबकर शरीर सार-रहित हो जाता है और मृत्यु की प्रतीक्षा में रहता है ॥३१॥

यथा हि नृभ्यां करपत्रमीरितं समुच्छ्रितं दारु भिनत्त्यनेकधा।
तथोच्छ्रितां पातयति प्रजामिमामहर्निशाभ्यामुपसंहिता जरा ॥३२॥

जिस प्रकार दो मनुष्यों द्वारा संचालित आरा ऊँचे वृक्ष को अनेक खण्डों में काट देता है, उसी प्रकार दिवस और रात्रि के द्वारा समीप लाया गया बुढ़ापा इस उन्नत (अभिमानी, मत्त) जगत् का पतन उपस्थित करता है ॥३२॥

स्मृतेः प्रमोषो वपुषः पराभवो
रतेः क्षयो वाच्छ्रुतिचक्षुषां ग्रहः।
श्रमस्य योनिर्बलवीर्ययोर्वधो
जरासमो नास्ति शरीरिणां रिपुः ॥३३॥

यह (बुढ़ापा) स्मरण-शक्ति का हरण करनेवाला, रूप का तिरस्कार करनेवाला, आनन्द का विनाशक, आँख कान और वाणी का ग्रहण पैदा करनेवाला, थकावट उत्पन्न करनेवाला तथा बल एवं वीर्य की हत्या करनेवाला है; शरीर-धारियों के लिए बुढ़ापे के समान कोई दूसरा शत्रु नहीं है ॥३३॥

इदं विदित्वा निधनस्य दैशिकं जराभिधानं जगतो महद्भयं।
अहं वपुष्मान्बलवान्युवेति वा न मानमारोढुमनार्यमर्हसि ॥३४॥

जरा नामक संसार के इस महाभय को मृत्यु (-मार्ग) का उपदेशक (निर्देशक) जानकर मैं रूपवान् बलवान् वा युवा हूँ, इस अनार्य अभिमान के वश में तुम्हें न होना चाहिए ॥३४॥

अहं ममेत्येव च रक्तचेतसां शरीरसंज्ञा तव यः कलौ ग्रहः।
तमुत्सृजैवं यदि शाम्यता भवेद्भयं ह्यहं चेति ममेति चार्च्छति ॥३५॥

अपने आसक्त चित्त के कारण शरीर को "मैं" और 'मेरा ही' समझना, यह जो तुम्हारा दूषित विचार है, इसको छोड़ो, ऐसा करने पर ही शान्ति होगी; क्योंकि 'मैं' और "मेरा" का भाव भय उत्पन्न करता है ॥३५॥

यदा शरीरे न वशोऽस्ति कस्यचिन्निरस्यमाने विविधैरुपप्लवैः।
कथं क्षमं वक्तुमहं ममेति वा शरीरसंज्ञं गृहमापदामिदं ॥३६॥

विविध उपद्रवों से पीड़ित रहने वाले शरीर पर जब किसी का वश चलता ही नहीं है तब शरीर नामक आपत्तियों के घर को "मैं" या "मेरा" समझना कैसे उचित हो सकता है ? ॥३६॥

सपन्नगे यः कुगृहे सदाशुचौ रमेत नित्यं प्रतिसंस्कृतेऽबले।
स दुष्टधातावशुचौ चलाचले रमेत काये विपरीतदर्शनः ॥३७॥

जो सर्प-युक्त सदा मैले-कुचैले जीर्ण-शीर्ण व कमजोर कुगृह में बराबर रमण करेगा वही विपरीत दृष्टिवाला मनुष्य दुष्ट (परस्पर-विरोधी) धातुओं से युक्त अपवित्र और क्षणभंगुर शरीर में रमण करेगा ॥३७॥

यथा प्रजाभ्यः कुनृपो बलाद्बलीन्हरत्यशेषं च न चाभिरक्षति।
तथैव कायो वसनादिसाधनं हरत्यशेषं च न चानुवर्तते ॥३८॥

जिस प्रकार कुराजा प्रजाओं से बलात् अशेष कर लेता है और उनकी रक्षा नहीं करता है उसी प्रकार शरीर अशेष वस्त्र-आदि साधन हरण करता है और अनुकूल नहीं रहता है ॥३८॥

३५—पा० "रक्तचेतसः"।

यथा प्ररोहन्ति तृणान्ययत्नतः क्षितौ प्रयत्नात्तु भवन्ति शालयः।
तथैव दुःखानि भवन्त्ययत्नतः सुखानि यत्नेन भवन्ति वा न वा ॥

जिस प्रकार पृथ्वी पर तृण अनायास ही अंकुरित होते हैं और धान प्रयत्न करने पर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार दुःख विना यत्नके ही होते हैं किंतु सुख यत्न करने पर होते हैं या नहीं भी होते हैं ॥३९॥

शरीरमार्तं परिकर्षतश्चलं न चास्ति किंचित्परमार्थतः सुखं।
सुखं हि दुःखप्रतिकारसेवया स्थिते च दुःखे तनुनि व्यवस्यति ॥४०॥

आर्त एवं क्षणभङ्गुर शरीर को घसीटने में वास्तव में कुछ भी सुख नहीं है। दुःख का प्रतिकार करके थोड़ा-सा दुःख रहने पर ही आदमी सुख की कल्पना कर लेता है ॥४०॥

यथानपेक्ष्याग्र्यमपीप्सितं सुखं प्रबाधते दुःखमुपेतमण्वपि।
तथानपेक्ष्यात्मनि दुःखमागतं न विद्यते किंचन कस्यचित्सुखं ॥४१॥

जिस प्रकार अभिलषित महासुख की अपेक्षा करने पर भी उपस्थित दुःख, चाहे अत्यल्प ही क्यों न हो, कष्ट देता ही है उसी प्रकार आये हुए दुःख की अवहेलना करके किसी को कोई सुख नहीं हो सकता है ॥४१॥

शरीरमीदृग्बहुदुःखमध्रुवं
फलानुरोधादथ नावगच्छसि।
द्रवत्फलेभ्यो धृतिरश्मिभिर्मनो
निगृह्यतां गौरिव शस्यलालसा ॥४२॥

शरीर दुःख-पूर्ण और क्षणभङ्गुर है, यदि फलकी आसक्ति के कारण

४१—मैंने 'यथानपेक्ष्य' के स्थान में 'यथान्वपेक्ष्य' पढ़कर अर्थ किया है।

इसे नहीं समझ रहे हो तो भी चञ्चल (नाशवान्) फलों की ओर से अपने मनको धैर्यरूपी रस्सी से रोको, जैसे कि फसल (चरने) के लिये लालायित गौ को रोकते हैं ॥४२॥

न कामभोगा हि भवन्ति तृप्तये हवींषि दीप्तस्य विभावसोरिव ।
यथा यथा कामसुखेषु वर्तते तथा तथेच्छा विषयेषु वर्धते ॥४३॥

काम-भोगों से तृप्ति नहीं होती है, जैसे कि जलती आग को आहुतियों से तृप्ति नहीं होती है। जैसे जैसे काम-सुखों में प्रवृत्ति होती जाती है वैसे वैसे विषय-भोगों की इच्छा बढ़ती जाती है ॥४३॥

यथा च कुष्ठव्यसनेन दुःखितः प्रतापनान्नैव शमं निगच्छति ।
तथेन्द्रियार्थेष्वजितेन्द्रियश्चरन्न कामभोगैरुपशान्तिमृच्छति ॥४४॥

जिस प्रकार कुष्ठ रोग से पीड़ित व्यक्ति अपने (शरीर) को तपा कर शान्ति नहीं प्राप्त करता है उसी प्रकार विषयों के बीच अजितेन्द्रिय होकर रहनेवाला मनुष्य काम-भोगों से शान्ति नहीं पाता है ॥४४॥

यथा हि भैषज्यसुखाभिकाङ्क्षया भजेत रोगान्न भजेत तत्क्षमं ।
तथा शरीरे बहुदुःखभाजने रमेत मोहाद्विषयाभिकाङ्क्षया ॥४५॥

जिस प्रकार (स्वादिष्ट) औषधि के सुख की आकांक्षा से रोगों का सेवन करे और उनके (कटु) प्रतिकार का सेवन न करे, उसी प्रकार मोहवश विषयों की आकांक्षा से दुःखपूर्ण शरीर में रमण करे ॥४५॥

अनर्थकामः पुरुषस्य यो जनः स तस्य शत्रुः किल तेन कर्मणा ।
अनर्थमूला विषयाश्च केवला ननु प्रहेया विषमा यथारयः ॥४६॥

जो मनुष्य किसी दूसरे के अनर्थ की कामना करता है वह अपने

उस कर्म के कारण उसका शत्रु है। विषय केवल अनर्थ के मूल हैं; विषम शत्रुओं के समान उनका परित्याग करना चाहिए ॥४६॥

इहैव भूत्वा रिपवो वधात्मकाः प्रयान्ति काले पुरुषस्य मित्रतां।
परत्र चैवेह च दुःखहेतवो भवन्ति कामा न तु कस्यचिच्छिवाः ॥४७॥

इस संसार में जो शत्रु होकर हत्या करना चाहते हैं वे समय पर मनुष्य के मित्र हो जाते हैं; किंतु काम (विषय) इहलोक और परलोक में दुःख के हेतुस्वरूप हैं, उनसे किसी का कल्याण नहीं होता है ॥४७॥

यथोपयुक्तं रसवर्णगन्धवद्वधाय किंपाकफलं न पुष्टये।
निषेव्यमाणा विषयाश्चलात्मनो भवन्त्यनर्थाय तथा न भूतये ॥४८॥

जिस प्रकार (सुन्दर) रस वर्ण व गन्ध से युक्त किम्पाक फल का उपयोग करने से मृत्यु होती है, पुष्टि नहीं, उसी प्रकार विषयों का सेवन करने से चञ्चलात्मा व्यक्ति का अनर्थ (अनिष्ट) ही होता है, कल्याण नहीं ॥४८॥

तदेतदाज्ञाय विपाप्मनात्मना विमोक्षधर्माद्युपसंहितं हितं।
जुषस्व मे सज्जनसंमतं मतं प्रचक्ष्व वा निश्चयमुद्गिरन् गिरं ॥४९॥

इसलिए पाप-रहित आत्मा (चित्त) से मोक्ष-धर्म के आरम्भ से युक्त इस हित को पहचानो और सज्जन-सम्मत मेरे मत का सेवन करो या वचन बोलकर अपना निश्चय कहो" ॥४९॥

इति हितमपि बह्वपीदमुक्तः श्रुतमहता श्रमणेन तेन नन्दः।
न धृतिमुपययौ न शर्म लेभे द्विरद इवातिमदो मदान्धचेताः ॥५०॥

उस महाविद्वान् भिक्षु के द्वारा इस प्रकार बहुत कुछ हित कहे जाने पर भी नन्द को न धैर्य हुआ न शान्ति; क्योंकि मत्त हाथी के समान उसका चित्त मदान्ध था ॥५०॥

नन्दस्य भावमवगम्य ततः स भिक्षुः
पारिप्लवं गृहसुखाभिमुखं न धर्मे ।
सत्त्वाशयानुशयभावपरीक्षकाय
बुद्धाय तत्त्वविदुषे कथयांचकार ॥५१॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये मदापवादो नाम नवमः सर्गः ।

तब नन्द के चित्त को चञ्चल, घरके सुखों की ओर उन्मुख और धर्म से विमुख जानकर, उस भिक्षु ने प्राणियों के आशय अनुशय और भाव के परीक्षक तत्त्वज्ञ बुद्ध से (उसका अभिप्राय) निवेदन किया ॥५१॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "अभिमान की निन्दा"
नामक नवम सर्ग समाप्त ।

दशम सर्ग

स्वर्ग-दर्शन ❀

श्रुत्वा ततः सद्व्रतमुत्सिसृक्षुं भार्यां दिदृक्षुं भवनं विविक्षुं ।
नन्दं निरानन्दमपेतधैर्यमभ्युज्जिहीर्षुर्मुनिराजुहाव ॥१॥

तब 'नन्द उत्तम व्रत को छोड़ना चाहता है, पत्नी को देखना चाहता है, घर लौट जाना चाहता है, वह आनन्द से रहित है और उसका धैर्य चला गया है' यह सुनकर उसका उद्धार करने की इच्छा से मुनि ने उसको बुलाया ॥१॥

तं प्राप्तमप्राप्तविमोक्षमार्गं पप्रच्छ चित्तस्खलितं सुचित्तः ।
स ह्रीमते ह्रीविनतो जगाद स्वं निश्चयं निश्चयकोविदाय ॥२॥

उसके आने पर उस विभ्रान्तचित्त और मोक्ष-मार्ग को नहीं पाये हुए (नन्द) से सुन्दर चित्तवाले (मुनि) ने पूछा। लज्जा से झुककर उसने (दूसरों के) निश्चय जाननेवाले लज्जाशील मुनि से अपना निश्चय कहा ॥२॥

नन्दं विदित्वा सुगतस्ततस्तं भार्याभिधाने तमसि भ्रमन्तं ।
पाणौ गृहीत्वा वियदुत्पपात मलं जले साधुरिवोज्जिहीर्षुः ॥३॥

तब नन्द को भार्यारूपी अन्धकार में भटकता जानकर सुगत उसे

❀ या स्वर्ग का दृष्टान्त

३—"मनरूपी वस्त्र में लगे स्नेहरूपी मल को·······निर्मल जल से धोना चाहता हूँ"—ह० च० उच्छ्वासछः। पा० "मणिं जले मग्नमि०", "मीनं जले मद्गुरि०"।

अपने हाथ में लेकर उसका (चित्त-) मल निकालने की इच्छा से आकाश में उड़ गये, जैसे कोई साधु जल में मल धोने की इच्छा से (आकाश-मार्ग से) जा रहा हो ॥३॥

काषायवस्त्रौ कनकावदातौ विरेजतुस्तौ नभसि प्रसन्ने।
अन्योन्यसंश्लिष्टविकीर्णपक्षौ सरःप्रकीर्णाविव चक्रवाकौ ॥४॥

काषाय वस्त्र पहने हुए सुनहले रंगवाले वे दोनों स्वच्छ आकाश में ऐसे शोभित हुए, जैसे सरोवर में उड़ते हुए चक्रवाक-युगल, जिनके पंख परस्पर सटे हुए और फैले हुए हों ॥४॥

तौ देवदारूत्तमगन्धवन्तं नदीसरःप्रस्रवणौघवन्तं।
आजग्मतुः काञ्चनधातुमन्तं देवर्षिमन्तं हिमवन्तमाशु ॥५॥

वे दोनों देवदारु के वृक्षों से सुगन्धित, नदियों सरोवरों और झरनों से सुशोभित, सुवर्ण-धातु से युक्त तथा देवर्षियों से अधिष्ठित हिमालय पर शीघ्र ही आ गये ॥५॥

तस्मिन् गिरौ चारणसिद्धजुष्टे शिवे हविर्धूमकृतोत्तरीये।
अगम्यपारस्य निराश्रयस्य तौ तस्थतुर्द्वीप इवाम्बरस्य ॥६॥

चारणों और सिद्धों से सेवित उस मङ्गलमय पर्वत पर, जो होम के धुँआ रूपी चादर से ढका हुआ था, वे दोनों ऐसे विराजे जैसे अपार और आश्रय- रहित आकाश के किसी द्वीप में स्थित हों ॥६॥

शान्तेन्द्रिये तत्र मुनौ स्थिते तु सविस्मयं दिक्षु ददर्श नन्दः।
दरीश्च कुञ्जांश्च वनौकसश्च विभूषणं रक्षणमेव चाद्रेः ॥७॥

जब शांतेन्द्रिय मुनि वहाँ विराज रहे थे, तब नन्द ने विस्मयपूर्वक

६—पा० "आगम्य पारस्य"।

चारों ओर गुफाओं कुञ्जों और वन-चारियों को देखा, जो पर्वत के आभूषण और रक्षक थे ॥७॥

बह्वायते तत्र सिते हि शृङ्गे संक्षिप्तबर्हः शयितो मयूरः ।
भुजे बलस्यायतपीनबाहोर्वैडूर्यकेयूर इवाबभासे ॥८॥

वहाँ बहुत विस्तृत और श्वेत शिखर पर एक मोर पड़ा हुआ था, जान पड़ता था जैसे लम्बी और मोटी भुजाओंवाले बलराम के बाहु का वैदूर्यमणि का बना बाजूबन्द हो ॥८॥

मनःशिलाधातुशिलाश्रयेण पीताकृतांसो विरराज सिंहः ।
संतप्तचामीकरभक्तिचित्रं रूप्याङ्गदं शीर्णमिवाम्बिकस्य ॥९॥

मनःशिला धातु की शिला के सम्पर्क से जिसका अंग पीला हो गया था वह सिंह ऐसे शोभित हुआ जैसे कृष्ण का टूटा हुआ चाँदी का बाजूबन्द, जो तपे हुए सोने के तारों से मढ़ा हुआ हो ॥९॥

व्याघ्रः क्लमव्यायतखेलगामी लाङ्गूलचक्रेण कृतापसव्यः ।
बभौ गिरेः प्रस्रवणं पिपासुर्दित्सन्पितृभ्योऽम्भ इवावतीर्णः ॥१०॥

थकावट के कारण धीरे धीरे चलकर एक बाघ अपनी चक्राकार पूँछ को दाहिने कन्धे पर रखकर पहाड़ी झरने का जल पीना चाहता था, जान पड़ता था जैसे नीचे उतर कर अपसव्य करके (दाहिने कंधे पर चादर या यज्ञोपवीत रखकर) अपने पितरों को जल देने की इच्छा कर रहा हो ॥१०॥

९—"पीतीकृताङ्गो" और "शीर्णमिवाच्युतस्य" पढ़ कर अर्थ किया गया है ।

चलत्कदम्बे हिमवन्नितम्बे तरौ प्रलम्बे चमरो ललम्बे।
छेत्तुं विलग्नं न शशाक बालं कुलोद्गतां प्रीतिमिवार्यवृत्तः ॥११॥

हिमालय के नितम्ब पर, जहाँ कदम्ब-वृक्ष हिल रहे थे, एक लम्बे वृक्ष पर एक चमर लटक रहा था; वह (डाल में) फँसी हुई अपनी पूँछ को नहीं काट सका जैसे कि उत्तम आचरणवाला आदमी परम्परागत मित्रता को नहीं तोड़ सकता है ॥११॥

सुवर्णगौराश्च किरातसंघा मयूरपत्रोज्ज्वलगात्रलेखाः।
शार्दूलपातप्रतिमा गुहाभ्यो निष्पेतुरुद्गार इवाचलस्य ॥१२॥

सुनहले रंग के झुण्ड के झुण्ड किरात, जिनके शरीर मोर की पूँछों से उज्ज्वल थे, बाघों की तरह गुफाओं से निकल आये, जैसे पर्वत ने उन्हें वमन किया हो ॥१२॥

दरीचरीणामतिसुन्दरीणां मनोहरश्रोणिकुचोदरीणां।
वृन्दानि रेजुर्दिशि किंनरीणां पुष्पोत्कचानामिव वल्लरीणां ॥१३॥

गुफाओं में रहनेवाली अत्यन्त सुन्दरी किन्नरियाँ, जिनके नितम्ब स्तन और उदर मनोहर थे, चारों ओर ऐसे शोभित हुईं, जैसे फूलों से भरी हुई लताएँ ॥१३॥

नगान्नगस्योपरि देवदारूनायासयन्तः कपयो विचेरुः।
तेभ्यः फलं नापुरतोऽपजग्मुर्मोघप्रसादेभ्य इवेश्वरेभ्यः ॥१४॥

एक पहाड़ पर से दूसरे पहाड़ पर जाकर देवदारु के वृक्षों को क्लेशित करते हुए कपिगण विचर रहे थे; उन वृक्षों से फल नहीं मिलने

११—"चलत्कदम्बे" "तरौ" का भी विशेषण हो सकता है।

१२—पा० "मयूरपिच्छोज्ज्वलगात्ररेखाः"।

पर वे वहाँ से हट गए, जैसे उन ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों के समीप से जिनकी प्रसन्नता निष्फल होती है (याचकगण चले जाते हैं) ॥१४॥

तस्मात्तु यूथादपसार्यमाणां निष्पीडितालक्तकरक्तवक्त्रां।
शाखामृगीमेकविपन्नदृष्टिं दृष्ट्वा मुनिर्नन्दमिदं बभाषे ॥१५॥

उस झुण्ड से भटकी हुई एक वानरी को, जिसकी एक आँख नष्ट हो गई थी और जिसका मुख इस तरह लाल था जैसे उसपर महावर निचोड़ा गया हो, देखकर मुनि ने नन्द से यह कहा:— ॥१५॥

का नन्द रूपेण च चेष्टया च संपश्यतश्चारुतरा मता ते।
एषा मृगी वैकविपन्नदृष्टिः स वा जनो यत्र गता तवेष्टिः ॥१६॥

"हे नन्द, तुम्हारी समझ से रूप और हाव-भाव में कौन अधिक सुन्दर है यह वनरी जिसकी एक आँख नष्ट हो गई है या वह व्यक्ति जिसमें कि तुम्हारा मन लगा हुआ है?" ॥१६॥

इत्येवमुक्तः सुगतेन नन्दः कृत्वा स्मितं किंचिदिदं जगाद।
क्व चोत्तमस्त्री भगवन्वधूस्ते मृगी नगक्लेशकरी क्व चैषा ॥१७॥

सुगत द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर नन्द ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "हे भगवन् कहाँ वह उत्तम स्त्री आपकी वधू और कहाँ यह पेड़ को पीड़ा पहुँचानेवाली वनरी!" ॥१७॥

ततो मुनिस्तस्य निशम्य वाक्यं हेत्वन्तरं किंचिदवेक्षमाणः।
आलम्ब्य नन्दं प्रययौ तथैव क्रीडावनं वज्रधरस्य राज्ञः ॥१८॥

तब उसका यह वचन सुनकर, किसी दूसरे हेतु को देखते हुए मुनि नन्द को लेकर उसी प्रकार (आकाश-मार्ग से जाकर) वज्र धारण करने वाले देवेन्द्र के नन्दन-वन में पहुँच गये ॥१८॥

ऋतावृतावाकृतिमेक एके क्षणे क्षणे बिभ्रति यत्र वृक्षाः ।
चित्रां समस्तामपि केचिदन्ये षण्णामृतूनां श्रियमुद्वहन्ति ॥१९॥

वहाँ कितने ही वृक्ष क्षण क्षणमें ऋतु ऋतु की (बदलती हुई) आकृति (रूप, शोभा) को तथा दूसरे वृक्ष छः ऋतुओं की समस्त चित्र-विचित्र शोभा को (एक साथ) धारण करते हैं । ॥१९॥

पुष्यन्ति केचित्सुरभीरुदारा मालाः स्रजश्च ग्रथिता विचित्राः ।
कर्णानुकूलानवतंसकांश्च प्रत्यर्थिभूतानिव कुण्डलानां ॥२०॥

कितने ही वृक्ष सुगन्धित और सुन्दर मालाएँ और गुंथे हुए चित्र-विचित्र हार तथा कुण्डलों की बराबरी करनेवाले कानों के अनुकूल आभूषण धारण करते हैं ॥२०॥

रक्तानि फुल्लाः कमलानि यत्र
प्रदीपवृक्षा इव भान्ति वृक्षाः ।
प्रफुल्लनीलोत्पलरोहिणोऽन्ये
सोन्मीलिताक्षा इव भान्ति वृक्षाः ॥२१॥

वहाँ लाल कमलोंवाले पेड़ दीयटों के समान दिखाई पड़ते हैं और फूले हुए नीले कमलों से युक्त वृक्ष ऐसे शोभित होते हैं जैसे उनकी आँखें विकसित हुई हों ॥२१॥

नानाविरागाण्यथ पाण्डराणि सुवर्णभक्तिव्यवभासितानि ।
अतान्तवान्येकघनानि यत्र सूक्ष्माणि वासांसि फलन्ति वृक्षाः ॥२२

वहाँ के वृक्ष नाना रंगों के, सफेद रंग के सुवर्ण-रेखाओं से उज्जवल, (पत्तोंके समान) तन्तु-रहित घन और सूक्ष्म वस्त्र फलते हैं ॥२२॥

हारान्मणीनुत्तमकुण्डलानि केयूरवर्याण्यथ नूपुराणि ।
एवंविधान्याभरणानि यत्र स्वर्गानुरूपाणि फलन्ति वृक्षाः ॥२३॥

कितने ही वृक्ष हारों, मणियों, उत्तम कुण्डलों, उत्तम केयूरों, नूपुरों, और स्वर्ग के अनरूप ऐसे ही आभूषणों के फल देते हैं ॥२३॥

वैडूर्यनालानि च काञ्चनानि पद्मानि वज्राङ्कुरकेसराणि ।
स्पर्शक्षमाण्युत्तमगन्धवन्ति रोहन्ति निष्कम्पतला नलिन्यः ॥२४॥

कम्पन-रहित तल (=जल) वाले (शान्त) सरोवर सोने के कमल उत्पन्न करते हैं, जिनके नाल वैदूर्य के होते हैं, जिनके अंकुर और केसर हीरे के होते हैं, जो स्पर्श करने योग्य और उत्तम गन्ध से युक्त होते हैं ॥२४॥

यत्रायतांश्चैव ततांश्च तांस्तान्वाद्यस्य हेतून्सुषिरान् घनांश्च ।
फलन्ति वृक्षा मणिहेमचित्राः क्रीडासहायास्त्रिदशालयानां ॥२५॥

वहाँ देवताओं की क्रीड़ा में सहायता करनेवाले, मणियों और सुवर्ण से चित्र विचित्र वृक्ष भाँति-भाँति के वाद्य-उपकरण मृदङ्ग आदि (आयत=आनद्ध या अवनद्ध ?) वीणा आदि, वंशी आदि तथा काँसे के झाँझ मञ्जीरा आदि फल के रूप में देते हैं ॥२५॥

मन्दारवृक्षांश्च कुशेशयांश्च पुष्पानतान् कोकनदांश्च वृक्षान् ।
आक्रम्य माहात्म्यगुणैर्विराजन् राजायते यत्र स पारिजातः ॥२६॥

वहाँ मन्दार वृक्षों, कमलों, और फूलों से लदे कोकनद वृक्षों को अपने उत्कृष्ट गुणों से जीत कर, वह पारिजात (वृक्षों के बीच) राजा की तरह शोभित होता है ॥२६॥

कृष्टे तपःशीलहलैरखिन्नैस्त्रिपिष्टपक्षेत्रतले प्रसूताः ।
एवंविधा यत्र सदानुवृत्ता दिवौकसां भोगविधानवृक्षाः ॥२७॥

कभी नहीं थकने वाले तप और शील के हलों से जोती गई स्वर्ग

की भूमि में ऐसे वृक्ष उत्पन्न होते हैं, जो स्वर्ग-वासियों के भोगों को पैदा करते हैं और सदा उनके अनुकूल रहते हैं ॥२७॥

मनःशिलाभैर्वदनैर्विहंगा यत्राक्षिभिः स्फाटिकसंनिभैश्च ।
शावैश्च पक्षैरभिलोहितान्तैर्माञ्जिष्ठकैरर्धसितैश्च पादैः ॥२८॥

मनःशिला के समान (लाल) मुखवाले, स्फटिक के समान (निर्मल) नेत्र वाले, काले पीले और लाल डैने वाले तथा मञ्जिष्ठा के रंग के और आधा सफेद पाँव वाले पक्षी, ॥२८॥

चित्रैः सुवर्णच्छदनैस्तथान्ये वैडूर्यनीलैर्नयनैः प्रसन्नैः ।
विहंगमाः शिञ्जिरिकाभिधाना रुतैर्मनःश्रोत्रहरैर्भ्रमन्ति ॥२९॥

उसी प्रकार चमकीले चित्र-विचित्र सुनहले पंखवाले वैदूर्य के समान नीले और निर्मल नयन वाले शिञ्जिरिका नामक दूसरे पक्षी मन और श्रोत्र को हरने वाली बोली बोलते हुए विचरण करते हैं ॥२९॥

रक्ताभिरग्रेषु च वल्लरीभिर्मध्येषु चामीकरपिञ्जराभिः ।
वैडूर्यवर्णाभिरुपान्तमध्येष्वलंकृता यत्र खगाश्चरन्ति ॥३०॥

वहाँ के पक्षियों के डैनों (या देह-लताओं) के अग्रभाग लाल होते हैं, मध्य भाग सुनहला और पीला होता है, और अन्तिम भाग वैदूर्य के रंग का होता है, (स्वभाव से ही) इस प्रकार अलङ्कृत होकर वे वहाँ भ्रमण करते हैं ॥३०॥

रोचिष्णवो नाम पतत्रिणोऽन्ये दीप्ताग्निवर्णा ज्वलितैरिवास्यैः ।
भ्रमन्ति दृष्टीर्वपुषाक्षिपन्तः स्वनैः शुभैरप्सरसो हरन्तः ॥३१॥

जलती हुई अग्नि के रङ्ग के रोचिष्णु नामक दूसरे पक्षी, जिनके मुख ऐसे (लाल) लगते हैं जैसे प्रज्वलित हो रहे हों, अपने रूप से (दूसरों की)

दृष्टियों को आकृष्ट करते हुए तथा अपनी मीठी बोली से अप्सराओं (के मन)को हरण करते हुए विचरते हैं ॥३१॥

यत्रेष्टचेष्टा: सततप्रहृष्टा निरर्तयो निर्जरसो विशोका: ।
स्वै: कर्मभिर्हीनविशिष्टमध्या: स्वयंप्रभा: पुण्यकृतो रमन्ते ॥३२॥

वहाँ इच्छानुसार कार्य करने वाले, सदा प्रसन्न रहने वाले, पीड़ा, शोक और बुढ़ापे से रहित पुण्यवान् व्यक्ति रमण करते हैं, वे अपनी ही प्रभा से भासित होते हैं, अपने अपने कर्मों के अनुसार वे उत्तम मध्यम और हीन (स्थिति में या पद पर) होते हैं ॥३२॥

पूर्वं तपोमूल्यपरिग्रहेण स्वर्गक्रयार्थं कृतनिश्चयानां ।
मनांसि खिन्नानि तपोधनानां हरन्ति यत्राप्सरसो लडन्त्यः ॥३३॥

जिन्होंने पहले तपस्यारूपी मूल्य देकर स्वर्ग खरीदने का निश्चय किया था उन तपस्वियों के खिन्न (उदास) चित्त को विलासवती अप्सराएँ प्रसन्न करती हैं ॥३३॥

नित्योत्सवं तं च निशाम्य लोकं निस्तन्द्रिनिद्रारतिशोकरोगं ।
नन्दो जरामृत्युवशं सदार्तं मेने श्मशानप्रतिमं नृलोकं ॥३४॥

उस (दिव्य) लोक को नित्य उत्सवमय तथा थकावट नींद बेचैनी शोक और रोग से रहित देखकर नन्द ने जरा और मृत्यु के वशीभूत एवं सदा पीड़ित रहनेवाले मनुष्य-लोक को श्मशान के समान समझा ॥३४॥

ऐन्द्रं वनं तच्च ददर्श नन्दः समन्ततो विस्मयफुल्लदृष्टि: ।
हर्षान्विताश्चाप्सरस: परीयु: सगर्वमन्योन्यमवेक्षमाणाः ॥३५॥

विस्मय से विकसित आँखों वाले नन्द ने इन्द्र के उस वनको चारों ओर देखा और अप्सराएँ आनन्दित होकर अभिमान-पूर्वक एक-दूसरे को देखते हुए, उसके चारों ओर आगईं ॥३५॥

सदा युवत्यो मदनैककार्याः साधारणाः पुण्यकृतां विहाराः ।
दिव्याश्च निर्दोषपरिग्रहाश्च तपःफलस्याश्रयणं सुराणां ॥३६॥

वे सदा युवती ही रहती हैं, काम (-क्रीड़ा) ही उनका एक-मात्र कार्य है, वे (सब) पुण्यवानों के लिए समानरूप से उपभोग करने के लिए हैं, वे दिव्य हैं, उन्हें ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है, स्वर्ग में रहने वाले अपनी तपस्या के फलस्वरूप उन्हें प्राप्त करते हैं ॥३६॥

तासां जगुर्धीरमुदात्तमन्याः पद्मानि काश्चिल्ललितं बभञ्जुः ।
अन्योन्यहर्षान्ननृतुस्तथान्याश्चित्राङ्गहाराः स्तनभिन्नहाराः ॥३७॥

उनमें से किन्हीं किन्हीं अप्सराओं ने लीलापूर्वक कमल फूल तोड़े और दूसरी अप्सराओं ने धैर्यपूर्वक उदात्त स्वर से गीत गाया। और पारस्परिक आनन्द के कारण कतिपयों ने नृत्य किया, जिसमें उन्होंने भाँति भाँति के हाव-भाव प्रकट किये और जिसमें उनके स्तनों (की कठोरता) के कारण उनके हार टूट गये ॥३७॥

कासांचिदासां वदनानि रेजुर्वनान्तरेभ्यश्चलकुण्डलानि ।
व्याविद्धपर्णेभ्य इवाकरेभ्यःपद्मानि कारण्डवघट्टितानि ॥३८॥

उनमें से कतिपयों के हिलते हुए कुण्डलों वाले मुख वन के भीतर से ऐसे शोभित हुए जैसे बिखरे हुए पत्तों वाले सरोवर में कलहंसों (या कारण्डवों) द्वारा हिलाये गये कमल शोभित हो रहे हों ॥३८॥

ताः निःसृताः प्रेक्ष्य वनान्तरेभ्यस्तडित्पताका इव तोयदेभ्यः ।
नन्दस्य रागेण तनुर्विवेपे जले चले चन्द्रमसः प्रभेव ॥३९॥

जैसे मेघों के भीतर से बिजली निकलती है वैसे ही वनके भीतर से

३८—पा० 'कादम्बविघट्टितानि'।

उन्हें निकलते देखकर नन्द का शरीर राग (अनुराग, काम-वासना) के कारण काँपने लगा वैसे ही जैसे चञ्चल जलमें चाँदनी काँपती है ॥३९॥

वपुश्च दिव्यं ललिताश्च चेष्टास्ततः स तासां मनसा जहार ।
कौतूहलावर्जितया च दृष्ट्या संश्लेषतर्षादिव जातरागः ॥४०॥

तब वह अपने चित्त से और कौतूहलपूर्ण दृष्टिसे उनके दिव्य रूप और सुन्दर चेष्टाओं का अनुसरण करने लगा, मानो उन्हें आलिङ्गन करने की प्यास से उसे राग उत्पन्न हो गया हो ॥४०॥

स जाततर्षोऽप्सरसः पिपासुस्तत्प्राप्तये ऽधिष्ठितविक्लवार्तः ।
लोलेन्द्रियाश्वेन मनोरथेन जेह्रीयमाणो न धृतिं चकार ॥४१॥

प्यास उत्पन्न होने पर वह अप्सराओं को पीने (उपभोग करने) की इच्छा करने लगा और उन्हें प्राप्त करने के लिए व्याकुलता से युक्त होकर आर्त हो गया । चञ्चल इन्द्रियरूपी घोड़ोंवाले मनरूपी रथ द्वारा अपहृत होते हुए (नन्द) को धैर्य नहीं रहा ॥४१॥

यथा मनुष्यो मलिनं हि वासः क्षारेण भूयो मलिनीकरोति ।
मलक्षयार्थं न मलोद्भवार्थं रजस्तथास्मै मुनिराचकर्ष ॥४२॥

जिस प्रकार मनुष्य मल का नाश करने के लिए न कि मल पैदा करने के लिए मलिन वस्त्र को राख से और भी मलिन करता है उसी प्रकार मुनि ने (राग का नाश करने के लिए ही) उसमें राग उत्पन्न किया ॥४२॥

दोषांश्च कायाद्भिषगुज्जिहीर्षुर्भूयो यथा क्लेशयितुं यतेत ।
रागं तथा तस्य मुनिर्जिघांसुर्भूयस्तरं रागमुपानिनाय ॥४३॥

जिस प्रकार वैद्य शरीर से रोगों को निकालने के लिए उसे और

भी क्लेश देनेका यत्न करता है उसी प्रकार उसका राग नष्ट करने की इच्छा से मुनि ने उसमें और भी राग उत्पन्न किया ॥४३॥

दीपप्रभां हन्ति यथान्धकारे सहस्ररश्मेरुदितस्य दीप्तिः ।
मनुष्यलोके द्युतिमङ्गनानामन्तर्दधात्यप्सरसां तथा श्रीः ॥४४॥

जिस प्रकार अन्धकार में (चमकने वाली) दीप की ज्योति उगते हुए सूर्य की प्रभा से नष्ट हो जाती है उसी प्रकार मनुष्य-लोक में (चमकने वाली) स्त्रियों की चमक अप्सराओं के सौन्दर्य से तिरोहित हो जाती है ॥४४॥

महच्च रूपं स्वल्पं हन्ति रूपं शब्दो महान्हन्ति च शब्दमल्पं ।
गुर्वी रुजा हन्ति रुजं च मृद्वीं सर्वो महान्हेतुरणोर्वधाय ॥४५॥

महान् रूप छोटे रूप को नष्ट करता है, महान् शब्द छोटे शब्द को मिटा देता है और भारी रोग हलके रोग को दबा देता है; समस्त महान् वस्तु (हेतु) (उसी प्रकार के समस्त) छोटी वस्तु के विनाश का कारण है ॥४५॥

मुनेः प्रभावाच्च शशाक नन्दस्तद्दर्शनं सोढुमसह्यमन्यैः ।
अवीतरागस्य हि दुर्बलस्य मनो दहेदप्सरसां वपुःश्रीः ॥४६॥

मुनि के प्रभाव से वह उनकी ओर देखने में समर्थ हुआ जिनकी ओर दूसरे नहीं देख सकते हैं; क्योंकि जिसका राग नष्ट नहीं हुआ है उस दुर्बल व्यक्ति का चित्त अप्सराओं के शरीर की ज्योति से दग्ध होता है ॥४६॥

मत्वा ततो नन्दमुदीर्णरागं भार्यानुरोधादपवृत्तरागं ।
रागेण रागं प्रतिहन्तुकामो मुनिर्विरागो गिरमित्युवाच ॥४७॥

तब नन्द को राग पैदा हो गया है और भार्या की ओर से उसका

अनुराग हट गया है, यह समझकर राग द्वारा राग नष्ट करने की इच्छा से राग-रहित मुनि ने यह वचन कहाः—॥४७॥

एताः स्त्रियः पश्य दिवौकसस्त्वं निरीक्ष्य च ब्रूहि यथार्थतत्त्वं ।
एताः कथं रूपगुणैर्मतास्ते स वा जनो यत्र गतं मनस्ते ॥४८॥

"तुम इन दिव्य स्त्रियों को देखो और देखकर ठीक ठीक कहो कि रूपोत्कर्ष में इन स्त्रियों के बारे में या उस व्यक्ति के बारे में, जिसमें तुम्हारा मन लगा हुआ है, तुम्हारी क्या सम्मति है ? ॥४८॥

अथाप्सरःस्वेव निविष्टदृष्टी रागाग्निनान्तर्हृदये प्रदीप्तः ।
सगद्गदं कामविषक्तचेताः कृताञ्जलिर्वाक्यमुवाच नन्दः ॥४९॥

तब अप्सराओं को ही (ध्यानपूर्वक) देखते हुए और हृदय के भीतर रागाग्नि से जलते हुए कामासक्तचित्त नन्द ने हाथ जोड़कर गद्गद स्वर से यह वचन कहाः—॥४९॥

हर्यङ्गनासौ मुषितैकदृष्टिर्यदन्तरे स्यात्तव नाथ वध्वाः ।
तदन्तरेऽसौ कृपणा वधूस्ते वपुष्मतीरप्सरसः प्रतीत्य ॥५०॥

"हे नाथ, एक आँख से रहित वह बनरी आपकी वधू से जिस दूरी पर है उसी दूरी पर आपकी वह बेचारी वधू भी रूपवती अप्सरा से है ॥५०॥

आस्था यथा पूर्वमभून्न काचिदन्यासु मे स्त्रीषु निशाम्य भार्यां ।
तस्यां ततःसम्प्रति काचिदास्था न मे निशाम्यैव हि रूपमासां ॥५१॥

जिस प्रकार पूर्वमें अपनी पत्नी को देखकर दूसरी स्त्रियों की ओर मेरा झुकाव नहीं हुआ उसी प्रकार इन (अप्सराओं) का रूप देखकर अब उसकी मुझे कुछ चाह नहीं रही ॥५१॥

यथा प्रतप्तो मृदुनातपेन दह्येत कश्चिन्महतानलेन ।
रागेण पूर्वं मृदुनाभितप्तो रागाग्निनानेन तथाभिदह्ये ॥५२॥

जिस प्रकार कोमल आतप से तपा हुआ आदमी महा-अग्नि में पड़कर जल जाता है उसी प्रकार पहले अल्प राग से संतप्त होकर मैं (अब) इस रागाग्नि से जल रहा हूँ ॥५२॥

वाग्वारिणा मां परिषिञ्च तस्माद्यावन्न दह्ये स इवाब्जशत्रुः ।
रागाग्निरद्यैव हि मां दिधक्षुः कक्षं सवृक्षाग्रमिवोत्थितोऽग्निः ॥५३॥

वाणी रूपी जल से मुझे सिक्त कीजिये जिससे मैं उस अब्ज-शत्रु (?) के समान जल न जाऊँ। यह रागाग्नि आज ही मुझे जला डालना चाहती है वैसे ही जैसे कि उठी हुई (दाव-) अग्नि वृक्ष-शिखर सहित तृण को जला डालती है ॥५३॥

प्रसीद सीदामि विमुञ्च मा मुने वसुन्धराधैर्य न धैर्यमस्ति मे ।
असून्विमोक्ष्यामि विमुक्तमानस प्रयच्छ वा वागमृतं मुमूर्षवे ॥५४॥

प्रसन्न होइये, मैं डूब रहा हूँ, हे मुनि मुझे बचाइये; हे वसुन्धरा-धैर्य, मुझे धैर्य नहीं है। मुझ मरते हुए को वाणीरूपी अमृत दान कीजिये या हे मुक्तचित्त, मैं प्राण छोड़ दूँगा ॥५४॥

अनर्थभोगेन विघातदृष्टिना
प्रमाददंष्ट्रेण तमोविषाग्निना ।
अहं हि दष्टो हृदि मन्मथाहिना
विधत्स्व तस्मादगदं महाभिषक् ॥५५॥

कामरूपी सर्प से—अनर्थ ही जिसका फन है, विनाश ही जिसकी दृष्टि है, प्रमाद ही जिसकी दंष्ट्रा है और तम ही जिसका तीक्ष्ण विष

है—मैं हृदय में डँसा गया हूँ; इसलिये, हे महाभिषक्, मुझे विष-नाशक ओषधि दीजिये ॥५५॥

अनेन दष्टो मदनाहिनाऽहिना
न कश्चिदात्मन्यनवस्थितः स्थितः ।
मुमोह बोध्योह्यचलात्मनो मनो
बभूव धीमांश्च स शन्तनुस्तनुः ॥५६॥

इस कामरूपी सर्प से डँसा जाने पर कोई भी व्यक्ति अपने में स्थिर नहीं रहा, स्थिरात्मा बोध्यु का मन मोह में पड़ गया और वह बुद्धिमान् शन्तनु (शरीर से) क्षीण हो गया ॥५६॥

स्थिते विशिष्टे त्वयि संश्रये श्रये
यथा न यामीह वसन्दिशं दिशं
यथा च लब्ध्वा व्यसनक्षयं क्षयं
व्रजामि तन्मे कुरु शंसतः सतः ॥५७॥

आप उत्तम आश्रय हैं, मैं आपकी शरण में जाता हूँ। मैं कह रहा हूँ कि आप वैसा करें जिससे मैं यहाँ रह कर छिन्न भिन्न न हो जाऊँ और जिससे इस विपत्ति का नाश करके घर लौट जाऊँ (या जिससे मैं जन्म जन्म में भटकता न फिरूँ और विपत्तिरहित स्थान को प्राप्त कर सकूँ)" ॥५७॥

ततो जिघांसुर्हृदि तस्य तत्तमस्तमोनुदो नक्तमिवोत्थितं तमः ।
महर्षिचन्द्रो जगतस्तमोनुदस्तमःप्रहीणो निजगाद गौतमः ॥५८॥

तब, जैसे रात्रि में उठे हुए अन्धकार को चन्द्रमा नष्ट करता है उसी प्रकार उसके हृदय में स्थित तम (अज्ञानान्धकार) का नाश करने की

इच्छा से संसार के तमोविनाशक तमोविहीन महर्षि-श्रेष्ठ गौतम ने कहा:— ॥५८॥

धृतिं परिष्वज्य विधूय विक्रियां निगृह्य तावच्छ्रुतचेतसी शृणु ।
इमा यदि प्रार्थयसे त्वमङ्गना विधत्स्व शुल्कार्थमिहोत्तमं तपः ॥५६॥

"धैर्य धारण करके विकार को दूर करो; कान और मन का निग्रह करके सुनो. यदि तुम इन स्त्रियों की इच्छा करते हो तो शुल्क (देने) के लिए उत्तम तपस्या करो ॥५९॥

इमा हि शक्या न बलान्न सेवया न संप्रदानेन न रूपवत्तया ।
इमा ह्रियन्ते खलु धर्मचर्यया सचेत्प्रहर्षश्चर धर्ममादृतः ॥६०॥

बल सेवा दान या रूप से इन्हें प्राप्त नहीं कर सकते, ये धर्माचरण के द्वारा ही प्राप्त हो सकती हैं; यदि ऐसी इच्छा हो तो आदरपूर्वक धर्माचरण करो ॥६०॥

इहाधिवासो दिवि दैवतैः समं वनानि रम्याण्यजराश्च योषितः ।
इदं फलं स्वस्य शुभस्य कर्मणो न दत्तमन्येन न चाप्यहेतुतः ॥६१॥

यहाँ देवताओं के साथ निवास, रम्य उपवन और बुढ़ापे से रहित स्त्रियाँ—यह सब अपने ही शुभ कर्म का फल है दूसरों के द्वारा नहीं दिया जा सकता और न अकारण ही प्राप्त होता है ॥६१॥

क्षितौ मनुष्यो धनुरादिभिः श्रमैः स्त्रियः कदाचिद्धि लभेत वा न वा ।
असंशयं यत्त्विह धर्मचर्यया भवेयुरेता दिवि पुण्यकर्मणः ॥६२॥

पृथ्वी पर मनुष्य शस्त्र-सञ्चालन आदि परिश्रम द्वारा कदाचित् स्त्रियों को प्राप्त कर सकता है या नहीं भी प्राप्त कर सकता है; किंतु यह निश्चित है कि इह लोक में धर्माचरण करके पुण्य अर्जन करने वालों को स्वर्ग में ये (अप्सराएँ) प्राप्त होती ही हैं ॥६२॥

तदप्रमत्तो नियमे समुद्यतो रमस्व यद्यप्सरसोऽभिलिप्ससे ।
अहं च तेऽत्र प्रतिभूः स्थिरे व्रते यथा त्वमाभिर्नियतं समेष्यसि ॥६३॥

इसलिए यदि अप्सराओं को प्राप्त करना चाहते हो तो प्रमाद-रहित होकर प्रयत्नपूर्वक नियम का पालन करो। मैं इस विषय में तुम्हारा प्रतिभू होता हूँ कि तुम्हारा व्रत स्थिर होने पर तुम अवश्य इन्हें प्राप्त करोगे" ॥६३॥

अतःपरं परममिति व्यवस्थितः परां धृतिं परममुनौ चकार सः ।
ततो मुनिः पवन इवाम्बरात्पतन्प्रगृह्य तं पुनरगमन्महीतलं ॥६४॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये स्वर्गनिदर्शनो नाम दशमः सर्गः ।

तब 'यह ठीक है' ऐसा निश्चय करके उसने उन उत्तम मुनि पर पूरा भरोसा किया. तब उसे लेकर मुनि वायु के समान आकाश से उतरते हुए पृथ्वी पर आगये ॥६४॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "स्वर्ग-दर्शन"
नामक दशम सर्ग समाप्त ।

एकादश सर्ग

** स्वर्ग की निन्दा*

ततस्ता योषितो दृष्ट्वा नन्दो नन्दनचारिणीः ।
बबन्ध नियमस्तम्भे दुर्दमं चपलं मनः ॥१॥

तब नन्दन-वन में विचरण करने वाली उन स्त्रियों को देखकर नन्द ने अपने दुर्दान्त और चपल चित्त को नियमरूपी स्तम्भ में बाँधा ॥१॥

सोऽनिष्टनैष्क्रम्यरसो म्लानतामरसोपमः ।
चचार विरसो धर्मं निवेश्याप्सरसो हृदि ॥२॥

उसको वैराग्य अच्छा नहीं लगा, वह कुम्हलाये हुए कमल के समान रस-रहित हो गया; (किंतु) अप्सराओं को हृदय में रखकर उसने धर्माचरण किया ॥२॥

तथा लोलेन्द्रियो भूत्वा दयितेन्द्रियगोचरः ।
इन्द्रियार्थवशादेव बभूव नियतेन्द्रियः ॥३॥

उस प्रकार चञ्चलेन्द्रिय और विषयासक्त होकर भी उसने विषयों के लिए ही इन्द्रियों का संयम किया ॥३॥

कामचर्यासु कुशलो भिक्षुचर्यासु विक्लवः ।
परमाचार्यविष्टब्धो ब्रह्मचर्यं चचार सः ॥४॥

वह काम-चर्या (कामोपभोग) में निपुण और भिक्षु-चर्या में असमर्थ था; किंतु उत्तम आचार्य का आश्रय पाकर उसने ब्रह्मचर्य का पालन किया ॥४॥

---

* स्वर्ग की हीनता, स्वर्ग के दोष ।

संवृतेन च शान्तेन तीव्रेण मदनेन च।
जलाग्नेरिव संसर्गाच्छशाम च शुशोष च ॥५॥

शान्त संयम (के पालन) से उसे शान्ति मिलती थी, जैसे जल के सम्पर्क से; और तीव्र काम वासना (के उदय) से वह सूखता था, जैसे अग्नि के सम्पर्क से ॥५॥

स्वभावदर्शनीयोऽपि वैरूप्यमगमत्परं।
चिन्तयाप्सरसां चैव नियमेनायतेन च ॥६॥

यद्यपि वह स्वभाव से ही दर्शनीय था तो भी अप्सराओं की चिन्ता और दीर्घ संयम के कारण उसका रूप अत्यन्त बदल गया ॥६॥

प्रस्तवेष्वपि भार्यायां प्रियभार्यस्तथापि सः।
वीतराग इवातस्थौ न जहर्ष न चुक्षुभे ॥७॥

यद्यपि वह अपनी भार्या को उतना चाहता था तो भी उसकी चर्चा होने पर वह वीतराग के समान स्थिर रहता था, उसे न हर्ष होता था और न क्षोभ ॥७॥

तं व्यवस्थितमाज्ञाय भार्यारागात्पराङ्मुखं।
अभिगम्याब्रवीन्नन्दमानन्दः प्रणयादिदं ॥८॥

नन्द को भार्या की आसक्ति से विमुख और (नियम के पालन में) स्थिर जानकर, आनन्द ने उसके समीप जाकर प्रेमपूर्वक यों कहा:—॥८॥

अहो सदृशमारब्धं श्रुतस्याभिजनस्य च।
निगृहीतेन्द्रियः स्वस्थो नियमे यदि संस्थितः ॥९॥

५—पा० 'जलाग्न्योरिव'।

७—पा० 'इवोत्तस्थौ'।

"अहो ! इन्द्रिय-निग्रह करके तुम स्वस्थ हो गये हो और नियम (के पालन) में स्थिर हो गये हो, यह तुमने अपने कुल और विद्या के अनुरूप ही आरम्भ किया है ॥९॥

अभिष्वक्तस्य कामेषु रागिणो विषयात्मनः।
यदियं संविदुत्पन्ना नेयमल्पेन हेतुना ॥१०॥

कामासक्त रागी और विषयात्मा व्यक्ति को जो यह ज्ञान उत्पन्न हुआ है सो किसी अल्प हेतु से नहीं ॥१०॥

व्याधिरल्पेन यत्नेन मृदुः प्रतिनिवार्यते ।
प्रबलः प्रबलैरेव यत्नैर्नश्यति वा न वा ॥११॥

कोमल (दुर्बल, साधारण) रोग अल्प यत्न से ही दूर कर दिया जाता है, किंतु प्रबल रोग प्रबल प्रयत्न से ही नष्ट होता है या नहीं भी ॥११॥

दुर्हरो मानसो व्याधिर्बलवांश्च तवाभवत् ।
विनिवृत्तो यदि ते सर्वथा धृतिमानसि ॥१२॥

तुम्हारा मानसिक रोग बलवान् और दुस्साध्य था; यदि वह (वास्तव में) नष्ट हो गया है, तो तुम सब प्रकार से धैर्यशाली हो ॥१२॥

दुष्करं साध्वनार्येण मानिना चैव मार्दवं।
अतिसर्गश्च लुब्धेन ब्रह्मचर्यं च रागिणा ॥१३॥

अनार्य के लिये साधु-कर्म, अभिमानी के लिए मृदु आचरण, लोभी के लिए दान और रागी के लिए ब्रह्मचर्य दुष्कर है ॥१३॥

एकस्तु मम संदेहस्तवास्यां नियमे धृतौ ।
अत्रानुनयमिच्छामि वक्तव्यं यदि मन्यसे ॥१४॥

नियम (के पालन) में तुम्हारी जो यह दृढ़ता (निष्ठा) है उसमें

मुझे एक संदेह है यदि तुम कहने योग्य समझते हो तो मैं इस विषय में तुमसे अनुनय करना चाहता हूँ ॥१४॥

आर्जवाभिहितं वाक्यं न च गन्तव्यमन्यथा ।
रूक्षमप्याशये शुद्धे रूक्षतो नैति सज्जनः ॥१५॥

सरलता (साधुता) पूर्वक कहे गये वचन को अन्यथा नहीं समझना चाहिए। आशय शुद्ध होने पर रूखे वचन को भी सज्जन रूखा नहीं समझता है ॥१५॥

अप्रियं हि हितं स्निग्धमस्निग्धमहितं प्रियं ।
दुर्लभं तु प्रियहितं स्वादु पथ्यमिवौषधं ॥१६॥

क्योंकि हितकारी अप्रिय वचन स्नेह से परिपूर्ण (मित्र का) होता है और अहितकारी प्रिय वचन स्नेह से रहित (अमित्र का) होता है, प्रिय भी हो और हितकर भी हो ऐसा वचन दुर्लभ है वैसे ही जैसे कि ओषधि जो स्वादिष्ठ भी हो और रोग-निवारक (स्वास्थ्य-प्रद) भी हो ॥१६॥

विश्वासश्चार्थचर्या च सामान्यं सुखदुःखयोः ।
मर्षणं प्रणयश्चैव मित्रवृत्तिरियं सतां ॥१७॥

विश्वास, उपकार, सुख-दुःख में समान भाव, क्षमा और प्रेम —यही तो सज्जनों की मित्रता है ॥१७॥

तदिदं त्वा विवक्षामि प्रणयान्न जिघांसया ।
त्वच्छ्रेयो हि विवक्षा मे यतो नार्हाम्युपेक्षितुं ॥१८॥

इसलिए प्रेम के वशीभूत होकर, न कि तुम्हारी हिंसा करने की इच्छा से मैं तुम्हें कुछ कहना चाहता हूँ; मैं तुम्हें तुम्हारा श्रेय कहना चाहता हूँ; क्योंकि इसकी उपेक्षा करना मेरे लिए उचित नहीं है ॥१८॥

अप्सरोभृतको धर्मं चरसीत्यभिधीयसे ।
किमिदं भूतमाहोस्वित्परिहासोऽयमीदृशः ॥१६॥

अप्सराओं को प्राप्त करने के लिए धर्माचरण करते हो, ऐसा लोग कहते हैं । क्या यह सत्य है ? या यह परिहास है ? ॥१९॥

यदि तावदिदं सत्यं वक्ष्याम्यत्र यदौषधं ।
औद्धत्यमथ वक्तृणामभिधास्यामि तद्रजः ॥२०॥

यदि वास्तव में यह सत्य है तो मैं इसकी औषधि बतलाऊँगा या यदि कहनेवालों की ढिठाई है तो मैं इसे उनका रजस् (दोष) कहूँगा" ॥२०॥

श्लक्ष्णपूर्वमथो तेन हृदि सोऽभिहतस्तदा ।
ध्यात्वा दीर्घं निशश्वास किंचिच्चावाङ्मुखोऽभवत् ॥२१॥

तब उसके द्वारा अपने हृदय में कोमलतापूर्वक आहत होकर उसने ध्यान (चिन्तन) किया और लम्बी साँस लेकर अपने मुखको कुछ नीचे कर लिया ॥२१॥

ततस्तस्येङ्गितं ज्ञात्वा मनःसंकल्पसूचकं ।
बभाषे वाक्यमानन्दो मधुरोदर्कमप्रियं ॥२२॥

तब उसके मानसिक-सङ्कल्प-सूचक सङ्केत को जानकर आनन्द ने मधुर-फल-दायक यह अप्रिय वचन कहा:— ॥२२॥

आकारेणावगच्छामि तव धर्मप्रयोजनं ।
यज्ज्ञात्वा त्वयि जातं मे हास्यं कारुण्यमेव च ॥२३॥

"तुम्हारी आकृति से ही तुम्हारे धर्माचरण का प्रयोजन जान लिया, जिसे जानकर तुम्हारे प्रति मुझे हँसी आती है और दया होती है ॥२३॥

२०—पा० "तद्रजः" के स्थान में "तत्त्वतः" ।

यथासनार्थं स्कन्धेन कश्चिद्गुर्वीं शिलां वहेत्।
तद्वत्त्वमपि कामार्थं नियमं वोढुमुद्यतः ॥२४॥

बैठने के लिए जैसे कोई आदमी अपने कन्धे पर भारी पत्थर को ढोये, वैसे ही तुम भी कामोपभोग के लिए नियम को ढोने (पालन करने) में उद्यत हुए हो ॥२४।

तिताडयिषया दृप्तो यथा मेषोऽपसर्पति।
तद्वदब्रह्मचर्याय ब्रह्मचर्यमिदं तव ॥२५॥

जैसे गर्वित भेड़ा चोट करने की इच्छा से पीछे हट जाता है वैसे ही तुम्हारा यह ब्रह्मचर्य-पालन अब्रह्मचर्य (कामोपभोग) के लिए है ॥२५॥

चिक्रीषन्ति यथा पण्यं वणिजो लाभलिप्सया।
धर्मचर्या तव तथा पण्यभूता न शान्तये ॥२६॥

जिस प्रकार व्यापारी लाभ उठाने के लिए सौदा (पण्य=विक्रेय वस्तु) खरीदना चाहते हैं, उसी प्रकार तुम्हारा यह धर्माचरण पण्य-स्वरूप (सौदा के समान) है, इससे शान्ति नहीं होगी ॥२६॥

यथाफलविशेषार्थं बीजं वपति कार्षकः।
तद्वद्विषयकार्पण्याद्विषयांस्त्यक्तवानसि ॥२७॥

जिस प्रकार कृषक विशेष फल पाने के लिए बीज बोता है उसी प्रकार विषयों के लोभ से ही तुमने विषयों का परित्याग किया है ॥२७॥

आकाङ्क्षेच्च यथा रोगं प्रतीकारसुखेप्सया।
दुःखमन्विच्छति भवांस्तथा विषयतृष्णया ॥२८॥

जिस प्रकार (रोग के) प्रतीकार में होनेवाला सुख प्राप्त करने की

२५—पा० "०सृप्तो"।

इच्छा से कोई आदमी रोग की अभिलाषा करे उसी प्रकार तुम विषयों की तृष्णा से दुःख की खोज करते हो । २८॥

यथा पश्यति मध्वेव न प्रपातमवेक्षते ।
पश्यस्यप्सरसस्तद्वद्‌भ्रंशमन्ते न पश्यसि ॥२९॥

जिस प्रकार (मनुष्य वृक्ष पर) मधु को ही देखता है और (वृक्षसे) गिरने के खतरे को नहीं, उसी प्रकार तुम अप्सराओं को तो देखते हो, किंतु अन्त में होनेवाले पतन को नहीं ॥२९॥

हृदि कामाग्निना दीप्ते कायेन वहतो व्रतं ।
किमिदं ब्रह्मचर्यं ते मनसाब्रह्मचारिणः ॥३०॥

कामाग्नि से तुम्हारा हृदय जल रहा है और शरीर से व्रत को ढो रहे हो । मनसे अब्रह्मचारी रहते हुए तुम्हारा यह ब्रह्मचर्य कैसा ? ॥३०॥

संसारे वर्तमानेन यदा चाप्सरसस्त्वया ।
प्राप्तास्त्यक्ताश्च शतशस्ताभ्यः किमिति ते स्पृहा ॥३१॥

संसार में रहते हुए (जन्म-चक्र में भटकते हुए) जब कि तुमने सैकड़ों बार अप्सराओं को पाया और खोया, तब फिर क्यों तुम्हें उनकी अभिलाषा होती है ? ॥३१॥

तृप्तिर्नास्तीन्धनैरग्नेर्नाम्भसा लवणाम्भसः ।
नापि कामैः सतृष्णस्य तस्मात्कामा न तृप्तये ॥ ३२॥

जलावन से अग्नि की, जल से समुद्र की और कामोपभोग से

२९—मधु यः केवलं दृष्ट्वा प्रपातं नानुपश्यति ।
स भ्रष्टो मधुलोभेन शोचत्येवं यथा भवान् ॥
—म० भा० स्त्रीपर्व, एक ३७ ।

तृष्णावान् की तृप्ति नहीं है; इसलिए कामोपभोग तृप्तिदायक नहीं है ॥३२॥

अतृप्तौ च कुतः शान्तिरशान्तौ च कुतः सुखं।
असुखे च कुतः प्रीतिरप्रीतौ च कुतो रतिः ॥३३॥

तृप्ति नहीं होने पर शान्ति कहाँ, शान्ति नहीं होने पर सुख कहाँ, सुख नहीं होने पर प्रीति कहाँ और प्रीति नहीं होने पर रति (आनन्द) कहाँ? ॥३३॥

रिरंसा यदि ते तस्मादध्यात्मे धीयतां मनः।
प्रशान्ता चानवद्या च नास्त्यध्यात्मसमा रतिः ॥३४॥

इसलिए यदि तुम आनन्द चाहते हो तो अपने मन को अध्यात्म में लगाओ। शान्त एवं निर्दोष अध्यात्म-आनंद के समान दूसरा कोई आनन्द नहीं है ॥३४॥

न तत्र कार्यं तूर्यैस्ते न स्त्रीभिर्न विभूषणैः।
एकस्त्वं यत्रस्थस्तया रत्याभिरंस्यसे ॥३५॥

उस (अध्यात्म-रति) में तुम्हें संगीत (तूर्य=वाद्य-विशेष) स्त्रियों या आभूषणों का काम नहीं होगा। जहाँ-तहाँ रहकर अकेले ही तुम उस (अध्यात्म-) आनन्द में रमोगे ॥३५॥

मानसं बलवद्दुःखं तर्षे तिष्ठति तिष्ठति।
तं तर्षं छिन्धि दुःखं हि तृष्णा चास्ति च नास्ति च ॥३६॥

जब तक तृष्णा रहेगी तब तक चित्त को अत्यन्त दुःख होगा। (इसलिए) उस तृष्णा को काटो; क्योंकि दुःख और तृष्णा एक साथ आते हैं और एक साथ जाते हैं ॥३६॥

संपत्तौ वा विपत्तौ वा दिवा वा नक्तमेव वा ।
कामेषु हि सतृष्णस्य न शान्तिरुपपद्यते ॥३७॥

समृद्धि में या विपत्ति में, दिन को या रात को, विषयों की तृष्णा रखनेवाले को (कभी) शान्ति नहीं होती है ॥३७॥

कामानां प्रार्थना दुःखा प्राप्तौ तृप्तिर्न विद्यते ।
वियोगान्नियतः शोको वियोगश्च ध्रुवो दिवि ॥३८॥

विषयों की खोज में दुःख है, उनकी प्राप्ति होने पर तृप्ति नहीं होती है. वियोग होने पर शोक नियत है और स्वर्ग में उनका वियोग निश्चित है ॥३८॥

कृत्वापि दुष्करं कर्म स्वर्गं लब्ध्वापि दुर्लभं ।
नृलोकं पुनरेवैति प्रवासात्स्वगृहं यथा ॥३९॥

मनुष्य दुष्कर कर्म करके स्वर्ग प्राप्त करता है और फिर मनुष्य-लोक को ही लौट आता है, जैसे प्रवास के बाद अपने घर को लौटता हो ॥३९॥

यदा भ्रष्टस्य कुशलं शिष्टं किंचिन्न विद्यते ।
तिर्यक्षु पितृलोके वा नरके चोपपद्यते ॥४०॥

(स्वर्ग से) गिरे हुए का थोड़ा सा भी कुशल (पुण्य) शेष नहीं रहता है, इसलिए वह पशु-पक्षियों की योनि में प्रेत-लोक में या नरक में उत्पन्न होता है ॥४०॥

तस्य भुक्तवतः स्वर्गे विषयानुत्तमानपि ।
भ्रष्टस्यार्तस्य दुःखेन किमास्वादः करोति सः ॥४१॥

स्वर्ग में उत्तम विषयों को भोगने के बाद वहाँ से गिरकर वह

अत्यन्त दुःखी हो जाता है, उस समय (उन विषयों का) वह आस्वाद उसका क्या (उपकार) करता है? ॥४१॥

श्येनाय प्राणिवात्सल्यात्स्वमांसान्यपि दत्तवान् ।
शिबिः स्वर्गात्परिभ्रष्टस्तादृक्कृत्वापि दुष्करं ॥४२॥

प्राणियों के प्रति (अतिशय) स्नेह होने के कारण शिबि ने बाज (पक्षी) को अपने शरीर का मांस भी दे दिया, ऐसा दुष्कर कर्म करके भी वह (पुण्य क्षीण होने पर) स्वर्ग से च्युत हुआ ॥४२॥

शक्रस्यार्धासनं गत्वा पूर्वपार्थिव एव यः ।
स देवत्वं गतः काले मान्धाताधः पुनर्ययौ ॥४३॥

जिस प्राचीन राजा मान्धाता ने इन्द्र का आधा आसन प्राप्त किया वह देवत्व को प्राप्त होकर भी समय होने पर नीचे (पृथ्वी पर ही) लौट आया ॥४३॥

राज्यं कृत्वापि देवानां पपात नहुषो भुवि ।
प्राप्तः किल भुजंगत्वं नाद्यापि परिमुच्यते ॥४४॥

नहुष ने देवताओं के ऊपर राज्य किया, तो भी वह (स्वर्ग से) पृथ्वी पर गिर कर सर्प हो गया और अब तक (उस योनि से) मुक्त नहीं हुआ ॥४४॥

तथैवेलिविलो राजा राजवृत्तेन संस्कृतः ।
स्वर्गं गत्वा पुनर्भ्रष्टः कूर्मीभूतः किलार्णवे ॥४५॥

उसी प्रकार राजा इलिविल, जो राजोचित आचरण से शुद्ध (पवित्र)

---

४३ — पा० 'सदेवत्वं गते'

४५ — 'इलिविल' पाठ अनिश्चित है या कथा अज्ञात है।

हो गया था, स्वर्ग चला गया और फिर (वहाँ से) गिरकर समुद्र में कछुआ हो गया ॥४५॥

भूरिद्युम्नो ययातिश्च ते चान्ये च नृपर्षभाः ।
कर्मभिर्द्यामभिक्रीय तत्क्षयात्पुनरत्यजन् ॥४६॥

भूरिद्युम्न, ययाति और दूसरे राजर्षियों ने अपने कर्मों से स्वर्ग को खरीदा और उन (कर्मों) के क्षीण होने पर फिर उस (स्वर्ग) का परित्याग किया ॥४६॥

असुराः पूर्वदेवास्तु सुरैरपहृतश्रियः ।
श्रियं समनुशोचन्तः पातालं शरणं ययुः ॥४७॥

असुरगण पूर्व काल में देवता थे, जब सुरों ने उनकी राज्य-लक्ष्मी का हरण किया तो वे लक्ष्मी के लिए शोक करते हुए पाताल की शरण में चले गये ! ॥४७॥

किं च राजर्षिभिस्तावदसुरैर्वा सुरादिभिः ।
महेन्द्राः शतशः पेतुर्माहात्म्यमपि न स्थिरं ॥४८॥

राजर्षियों, असुरों सुरों और दूसरों का क्या कहना ? शत शत महेन्द्र (इन्द्र-लोक से) च्युत हुए, जो महान् से महान् हैं वे भी चिरस्थायी नहीं हैं ॥४८॥

संसदं शोभयित्वैन्द्रीमुपेन्द्रश्चेन्द्रविक्रमः ।
क्षीणकर्मा पपातोर्वीं मध्यादप्सरसां रसन् ॥४९॥

इन्द्र के समान पराक्रमी उपेन्द्र, जिसने इन्द्र की सभा को सुशोभित किया था, अपने कर्मों के क्षीण होने पर अप्सराओं के बीच से रोता हुआ पृथ्वी पर गिरा ॥४९॥

४९—पा० '० मुपेन्द्रश्च त्रिविक्रमः'

हा चैत्ररथ हा वापि हा मन्दाकिनि हा प्रिये ।
इत्यार्ता विलपन्तोऽपि गां पतन्ति दिवौकसः ॥५०॥

हा चैत्ररथ (वन)! हा वापी (सरोवर) ! हा मन्दाकिनी ! हा प्रिये! इस प्रकार आर्त होकर विलाप करते हुए स्वर्ग के रहनेवाले पृथ्वी पर गिरते हैं ॥५०॥

तीव्रं ह्युत्पद्यते दुःखमिह तावन्मुमूर्षतां ।
किं पुनः पततां स्वर्गादेवान्ते सुखसेविनां ॥५१॥

यहाँ (इस पृथ्वी पर) मरण-काल में मनुष्यों को तीव्र दुःख होता है, फिर अन्तमें स्वर्ग से गिरते हुए (स्वर्ग-) सुख-सेवियों के दुःख का क्या कहना ? ॥५१॥

रजो गृह्णन्ति वासांसि म्लायन्ति परमाः स्रजः ।
गात्रेभ्यो जायते स्वेदो रतिर्भवति नासने ॥५२॥

उनके कपड़े धूल से मलिन हो जाते हैं, उनकी उत्तम मालाएँ मुरझा जाती हैं, शरीर से पसीना निकलता है और वहाँ रहने में (या सुख भोगने) में उन्हें आनन्द नहीं मिलता है ॥५२॥

एतान्यादौ निमित्तानि च्युतौ स्वर्गाद्दिवौकसां ।
अनिष्टानीव मर्त्यानामरिष्टानि मुमूर्षतां ॥५३॥

स्वर्ग से गिरते समय स्वर्ग-वासियों के ये पूर्व लक्षण देख पड़ते हैं, जैसे कि मृत्यु-काल में मनुष्यों के अनिष्ट लक्षण देखे जाते हैं ॥५३॥

सुखमुत्पद्यते यच्च दिवि कामानुपाश्नतां ।
यच्च दुःखं निपततां दुःखमेव विशिष्यते ॥५४॥

स्वर्ग में कामोपभोग करते समय जो सुख होता है और वहाँ से

५२—पा० 'नाशने'

गिरते समय जो दुःख होता है, सो (सुखसे) दुःख ही अधिक है ॥५४॥

तस्मादस्वस्तमत्राणमविश्वास्यमतर्पकं ।

विज्ञाय क्षयिणं स्वर्गमपवर्गे मतिं कुरु ॥५५॥

इसलिए, स्वर्ग परिणाम में अच्छा नहीं है, वह रक्षा नहीं करता, वह विश्वसनीय और तृप्ति-दायक नहीं है, वह नाशवान् (क्षणिक) है, ऐसा जानकर मोक्ष में अपने मनको लगाओ ॥५५॥

यदा चैश्वर्यवन्तोऽपि क्षयिणः स्वर्गवासिनः ।

को नाम स्वर्गवासाय क्षेष्णवे स्पृहयेद्बुधः ॥५८॥

जब कि ऐश्वर्यशाली स्वर्ग-निवासी भी स्थायी नहीं हैं, तब कौन बुद्धिमान् मनुष्य क्षणिक स्वर्ग-निवास की अभिलाषा करे ? ॥५८॥

सूत्रेण बद्धो हि यथा विहंगो व्यावर्तते दूरगतोऽपि भूयः ।

अज्ञानसूत्रेण तथावबद्धो गतोऽपि दूरं पुनरेति लोकः ॥५९॥

जिस प्रकार सूते से बँधा हुआ पक्षी दूर जाकर भी फिर लौट आता

५६-५७—निम्नलिखित दोनों श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं :—

अशरीरं भवाग्रं हि गत्वापि मुनिरुद्रकः ।

कर्मणोऽन्ते च्युतस्तस्मात् तिर्यग्योनिं प्रपत्स्यते ॥५६॥

शरीर-रहित उत्तम जन्म (अरूप लोक) को प्राप्त होकर भी उद्रक मुनि अपने कर्मों का अन्त होनेपर वहाँ से गिरकर पशु-पक्षियों की योनि में गिरेगा ।

मैत्र्या सप्तवार्षिक्या ब्रह्मलोकमितो गतः ।

सुनेत्रः पुनरावृत्तो गर्भवासमुपेयिवान् ॥५७॥

सात वर्षों तक मैत्री-भावना करके सुनेत्र यहाँ से ब्रह्मलोक को गया और फिर लौट कर उसने गर्भ में निवास किया ।

है, उसी प्रकार अज्ञान-सूत्र से बँधा हुआ मनुष्य दूर जाकर भी लौट आता है ।।५९।।

कृत्वा कालविलक्षणं प्रतिभुवा मुक्तो यथा बन्धनाद्
भुक्त्वा वेश्मसुखान्यतीत्य समयं भूयो विशेद्बन्धनं ।
तद्वद्द्यां प्रतिभूवदात्मनियमैर्ध्यानादिभिः प्राप्तवान्
काले कर्मसु तेषु भुक्तविषयेष्वाकृष्यते गां पुनः ।।६०।।

जिस प्रकार निश्चित समय के लिए मनुष्य प्रतिभू (जमानतदार) के द्वारा बन्धन (जेल) से मुक्त होता है और घर के सुखों को भोगकर, समय बीतने के बाद, पुनः बंधन में प्रवेश करता है, उसी प्रकार मनुष्य आत्मनियम एवं ध्यान आदि के द्वारा, जैसे प्रतिभू के द्वारा, स्वर्ग प्राप्त करता है और उन कर्मों का फल भोगने के बाद समय होने पर वह फिर पृथ्वी पर घसीट लाया जाता है ।।६०।।

अन्तर्जालगताः प्रमत्तमनसो मीनास्तडागे यथा
जानन्ति व्यसनं न रोधजनितं स्वस्थाश्चरन्त्यम्भसि ।
अन्तर्लोकगताः कृतार्थमतयस्तद्वद्दिवि ध्यायिनो
मन्यन्ते शिवमच्युतं ध्रुवमिति स्वं स्थानमावर्तकं ।।६१।।

पोखर में जाल के भीतर असावधान मछलियाँ घेरे से उत्पन्न हुए खतरे को नहीं जानती हैं और प्रसन्नतापूर्वक जल में विचरण करती हैं, उसी प्रकार इसलोक में रहकर स्वर्ग का ध्यान करनेवाले (स्वर्ग में प्राप्त होने वाले) अपने विनाशवान् स्थान को ही मङ्गलमय अविनाशी और स्थिर मानते हैं और अपने को कृतार्थ समझते हैं ।।६१।।

तज्जन्मव्याधिमृत्युव्यसनपरिगतं मत्वा जगदिदं
संसारे भ्राम्यमाणं दिवि नृषु नरके तिर्यक्पितृषु च ।

यत्त्राणं निर्भयं यच्छिवममरजरं निःशोकममृतं
तद्धेतोर्ब्रह्मचर्यं चर जहि हि चलं स्वर्गं प्रति रुचिं ॥६२॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये स्वर्गापवादो नामैकादशः सर्गः।

इसलिए यह जानकर कि जन्म-मरण और रोग से घिरा हुआ यह जगत् जन्म-चक्र में—स्वर्ग नरक पशु-पक्षियों की योनि, मनुष्य-लोक और पितृ-लोक में—भटक रहा है, जो जरा मरण शोक और भय से रहित है, जो त्राण (रक्षा) करने वाला, कल्याण-कारी और अमृत है उसी के लिए ब्रह्मचर्य का आचरण करो और अस्थायी स्वर्ग के प्रति अपनी इच्छा को छोड़ो ॥६२॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "स्वर्ग की निन्दा"
नामक एकादश सर्ग समाप्त।

द्वादश सर्ग

विवेक

अप्सरोभृतको धर्मं चरसीत्यथ चोदितः ।
आनन्देन तदा नन्दः परं व्रीडमुपागमत् ॥१॥

'अप्सराओं को प्राप्त करने के लिए धर्माचरण कर रहे हो' आनन्द के द्वारा इस प्रकार कहा जाने पर नन्द अत्यंत लज्जित हुआ ॥१॥

तस्य व्रीडेन महता प्रमोदो हृदि नाभवत् ।
अप्रामोद्येन विमुखं नावतस्थे व्रते मनः ॥२॥

उसके अत्यंत लज्जित होने के कारण उसके हृदय में आनन्द नहीं हुआ । आनन्द नहीं होने के कारण उसका उदास मन व्रत में नहीं लगा ॥२॥

कामरागप्रधानोऽपि परिहाससमोऽपि सन् ।
परिपाकगते हेतौ न स तन्ममृषे वचः ॥३॥

यद्यपि उसमें कामराग की प्रधानता थी और यद्यपि वह परिहास की पर्वाह नहीं करता था, तो भी हेतु का परिपाक होनेके कारण वह उस वचन को नहीं सह सका ॥३॥

अपरीक्षकभावाच्च पूर्वं मत्वा दिवं ध्रुवं ।
तस्मात्क्षेष्णु परिश्रुत्य भृशं संवेगमेयिवान् ॥४॥

ठीक ठीक नहीं देख सकने के कारण उसने पूर्व में स्वर्ग (के भोगों)

१—पा० 'सहोऽपि' ।

को ध्रुव समझा था, किंतु अब आनन्द से उसकी अनित्यता के बारे में सुनकर उसको अत्यन्त संवेग (भय, वैराग्य) हुआ ॥४॥

तस्य स्वर्गान्निववृते संकल्पाश्वो मनोरथः ।
महारथ इवोन्मार्गादप्रमत्तस्य सारथेः ॥५॥

उसका मनोरथ, सङ्कल्प ही जिसके घोड़े हैं, स्वर्ग की ओर से लौट गया, जैसे सावधान रहने वाले सारथि का महारथ कुमार्ग से लौट आता है ॥५॥

स्वर्गतर्षान्निवृत्तश्च सद्यः स्वस्थ इवाभवत् ।
मृष्टादपथ्याद्विरतो जिजीविषुरिवातुरः ॥६॥

स्वर्ग की तृष्णा के नष्ट होने पर वह तुरत स्वस्थ-जैसा हो गया, जैसे कि जीवित रहने की इच्छा करनेवाला रोगी स्वादिष्ट अपथ्य से विरत होकर स्वस्थ हो जाता है ॥६॥

विसस्मार प्रियां भार्यामप्सरोदर्शनाद्यथा ।
तथानित्यतयोद्विग्नस्तत्याजाप्सरसोऽपि सः ॥७॥

जैसे अप्सराओं को देखकर वह अपनी प्यारी भार्या को भूल गया था, वैसे ही (स्वर्ग के भोगों की) अनित्यता से उद्विग्न होकर उसने अप्सराओं (को प्राप्त करने की इच्छा) को भी छोड़ दिया ॥७॥

महतामपि भूतानामावृत्तिरिति चिन्तयन् ।
संवेगाच्च सरागोऽपि वीतराग इवाभवत् ॥८॥

बड़े बड़े प्राणियों (महापुरुषों) को भी (इस लोक में) लौटना पड़ता

६—पा० 'मिष्टा०' । मृष्टमन्नम्=उत्तम भोजन (वा० रा० १ ।१८ । १०-११)

है, इस प्रकार वह चिंता करने लगा और संवेग (भय, वैराग्य) होने के कारण वह रागी (कामी) भी वीतराग-जैसा हो गया ॥८॥

बभूव स हि संवेगः श्रेयसस्तस्य वृद्धये ।
धातुरेधिरिवाख्याते पठितोऽक्षरचिन्तकैः ॥९॥

यह संवेग उसके कल्याण की वृद्धि के लिए हुआ, जैसे शब्द-शास्त्रियों (वैयाकरणों) के अनुसार एधि धातु की धातु-रूप में वृद्धि होती है ॥९॥

न तु कामान्मनस्तस्य केनचिज्जगृहे धृतिः ।
त्रिषु कालेषु सर्वेषु निपातोऽस्तिरिव स्मृतः ॥१०॥

काम के कारण उसके मन में किसी भी प्रकार से किसी भी समय में धैर्य नहीं हुआ (अर्थात् उसकी मानसिक चञ्चलता सदा बनी ही रही), जिस प्रकार 'अस्ति' निपात का प्रयोग (भूत, भविष्य, वर्तमान) तीनों ही काल में बताया जाता है ॥१०॥

खेलगामी महाबाहुर्गजेन्द्र इव निर्मदः ।
सोऽभ्यगच्छद्गुरुं काले विवक्षुर्भावमात्मनः ॥११॥

मंदगामी गजेन्द्र के समान वह महाबाहु मद-मुक्त हो कर समय पर गुरु के समीप अपना अभिप्राय बतलाने की इच्छा से गया ॥११॥

प्रणम्य च गुरौ मूर्ध्ना बाष्पव्याकुललोचनः ।
कृत्वाञ्जलिमुवाचेदं ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः ॥१२॥

उसने शिर नवाकर गुरु को प्रणाम किया। उसकी आँखों में आँसू

९—'एत्येधत्यूठ्सु' अष्टा० ६-१-८९। पा० 'धातोरधि०' धातु के पूर्व अधि उपसर्ग लगाने से (अर्थ में) वृद्धि होती है। जैसे ∠ इ=जाना; किंतु अधि+इ=अध्ययन करना; देखिये रघु० पंद्रह ९।

१०—पा० 'कामात्मनः'।

आ गये और हाथ जोड़कर, लज्जावश कुछ अधोमुख होकर यों कहाः— ॥१२॥

अप्सरःप्राप्तये यन्मे भगवन्प्रतिभूरसि ।
नाप्सरोभिर्ममार्थोऽस्ति प्रतिभूत्वं त्यजाम्यहं ॥१३॥

"हे भगवन्, अप्सराओं की प्राप्ति के लिए आप मेरा प्रतिभू (जमानतदार) हैं, मुझे अब अप्सराओं से प्रयोजन नहीं है, इसलिए मैं प्रतिभूत्व (जमानत) का परित्याग करता हूँ ॥१३॥

श्रुत्वा ह्यावर्तकं स्वर्गं संसारस्य च चित्रतां ।
न मर्त्येषु न देवेषु प्रवृत्तिर्मम रोचते ॥१४॥

स्वर्ग से लौटना पड़ता है और संसार (की गति) विचित्र है, ऐसा सुनकर मर्त्य-लोक या देव-लोक में, कहीं भी रहना (जन्म लेना, रमण करना) मुझे पसन्द नहीं है ॥१४॥

यदि प्राप्य दिवं यत्नान्नियमेन दमेन च ।
अवितृप्ताः पतन्त्यन्ते स्वर्गाय त्यागिने नमः ॥१५॥

यदि प्रयत्नपूर्वक सयंम व इन्द्रिय -दमन के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त कर लोग वहाँ से अतृप्त ही गिरते हैं तो मैं उस क्षण-भङ्गुर स्वर्ग को प्रणाम करता हूँ ॥१५॥

अतश्च निखिलं लोकं विदित्वा सचराचरं ।
सर्वदुःखक्षयकरे त्वद्धर्मे परमे रमे ॥१६॥

अतः चराचर-सहित सम्पूर्ण लोक का ज्ञान प्राप्तकर मैं सब दुःखों का अन्त करनेवाले आपके ही परम धर्म में आनन्द पाता हूँ ॥१६॥

तस्माद्व्याससमासाभ्यां तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
यच्छ्रुत्वा शृण्वतां श्रेष्ठ परमं प्राप्नुयां पदं ॥१७॥

इसलिए विस्तार और संक्षेप से कृपया मुझे वह बतलावें, जिसे सुनकर, हे श्रोता-श्रेष्ठ, मैं परम पद प्राप्त करूँ" ॥१७॥

ततस्तस्याशयं ज्ञात्वा विपक्षाणीन्द्रियाणि च ।
श्रेयश्चैवामुखीभूतं निजगाद तथागतः ॥१८॥

तब उसका आशय जानकर, उसके इन्द्रियों को वशीभूत और श्रेय को समीपवर्ती समझकर तथागत ने कहा—॥१८॥

अहो प्रत्यवमर्शोऽयं श्रेयसस्ते पुरोजवः ।
अरण्यां मथ्यमानायामग्नेर्धूम इवोत्थितः ॥१९॥

"अहो, तुम्हारा विवेक तुम्हारे श्रेय का पुरोगामी है, जैसे अरणियों को रगड़ने से उठा हुआ धुआँ अग्नि का अग्रदूत होता है ॥१९॥

चिरमुन्मार्गविहृतो लोलैरिन्द्रियवाजिभिः ।
अवतीर्णोऽसि पन्थानं दिष्ट्या दृष्ट्याविमूढया ॥२०॥

चञ्चल इन्द्रिय रूपी घोड़ों द्वारा तुम चिरकाल तक कुमार्ग पर चले हो, किंतु अब सौभाग्य से सम्यक् दृष्टि द्वारा सन्मार्ग पर उतरे हो ॥२०॥

अद्य ते सफलं जन्म लाभोऽद्य सुमहांस्तव ।
यस्य कामरसज्ञस्य नैष्क्रम्यायोत्सुकं मनः ॥२१॥

आज तुम्हारा जन्म सफल है और आज तुम्हारा महान् लाभ है

१६—पा० 'सचराचरं' के स्थान में 'सुचलाचलं'—जौन्स्टन ।

१८—विपक्ष=पक्ष रहित, सहाय-रहित, स्थिर, वशीभूत ।
जौन्स्टन ने इसका अर्थ 'विपरीत' किया है

जो काम-रस का आस्वाद कर के तुम्हारा मन वैराग्य के लिए उत्सुक है ॥२१॥

लोकेऽस्मिन्नालयारामे निवृत्तौ दुर्लभा रतिः ।
व्यथन्ते ह्यपुनर्भावात्प्रपातादिव बालिशाः ॥२२॥

भोगों में आनन्द पानेवाले इस लोक में निवृत्ति में रति होना दुर्लभ है, क्योंकि मूर्ख जन्म-विनाश (मोक्ष) से ऐसे डरते हैं जैसे प्रपात से ॥२२॥

दुःखं न स्यात्सुखं मे स्यादिति प्रयतते जनः ।
अत्यन्तदुःखोपरमं सुखं तच्च न बुध्यते ॥२३॥

'मुझे दुःख न हो, मुझे सुख हो' इसके लिए मनुष्य यत्न करता है; किंतु वह यह नहीं जानता है कि दुःख का अत्यन्त निरोध ही सुख है ॥२३॥

अरिभूतेष्वनित्येषु सततं दुःखहेतुषु ।
कामादिषु जगत्सक्तं न वेत्ति सुखमव्ययं ॥२४॥

शत्रु-स्वरूप, अनित्य और दुःख-जनक काम-आदि (विषय, भोग) में जगत् निरन्तर आसक्त रहता है और वह अविनाशी सुख को नहीं जानता है ॥२४॥

सर्वदुःखापहं तत्तु हस्तस्थममृतं तव ।
विषं पीत्वा यदगदं समये पातुमिच्छसि ॥२५॥

विष-पान करके, समय पर जिस विष-नाशक औषध को पीना चाहते हो वह सर्व-दुःख-विनाशक अमृत तुम्हारे हाथ में है ॥२५॥

२२—आलय = लीन होना, आसक्त होना, विषय, भोग। प्रपात = पर्वत का खड़ा किनारा, जहाँ से गिरने से मृत्यु होती है।

अनर्हसंसारभयं मानार्हं ते चिकीर्षितं ।
रागाग्निस्तादृशो यस्य धर्मोन्मुख पराङ्मुखः ॥२६॥

तुम्हारा अभिप्राय सम्मान के योग्य है, क्योंकि इसमें संसार के भय के लिए स्थान नहीं है। हे धर्म की ओर अग्रसर होनेवाले, तुम्हारी वह वैसी रागाग्नि अब विमुख हो गई ॥२६॥

रागोद्दामेन मनसा सर्वथा दुष्करा धृतिः ।
सदोषं सलिलं दृष्ट्वा पथिनेव पिपासुना ॥२७॥

राग के कारण उच्छृङ्खल चित्त के लिए धैर्य धारण करना सब प्रकार से दुष्कर है, जैसे दूषित जल को (भी) देखकर प्यासे पथिक के लिए धैर्य रखना कठिन है ॥२७॥

ईदृशी नाम बुद्धिस्ते निरुद्धा रजसाभवत् ।
रजसा चण्डवातेन विवस्वत इव प्रभा ॥२८॥

तुम्हारी यह ऐसी बुद्धि रजोगुण से ढकी (अवरुद्ध) थी, जैसे आँधी की धूल से सूर्य की प्रभा छिपी रहती है ॥२८॥

सा जिघांसुस्तमो हार्दं या संप्रति विजृम्भते ।
तमो नैशं प्रभा सौरी विनिर्गीर्णेव मेरुणा ॥२९॥

तुम्हारी यह बुद्धि, जो अभी विकसित हो रही है, तुम्हारे हृदय का अज्ञान नष्ट करना चाहती है, जैसे मेरु-पर्वत से निकली सूर्य की प्रभा (चारों ओर) फैलकर रात्रि के अन्धकार को दूर करती है ॥२९॥

युक्तरूपमिदं चैव शुद्धसत्त्वस्य चेतसः ।
यत्ते स्यान्नैष्ठिके सूक्ष्मे श्रेयसि श्रद्धानता ॥३०॥

यह तुम्ह पवित्रतात्मा के चित्त के ही अनुरूप है कि सूक्ष्म एवं

नैष्ठिक श्रेय में तुम्हारी श्रद्धा उत्पन्न हुई है ॥३०॥

धर्मच्छन्दमिमं तस्माद्विवर्धयितुमर्हसि ।
सर्वधर्मा हि धर्मज्ञ नियमाच्छन्दहेतवः ॥३१॥

इसलिए तुम्हें धर्म की इस इच्छा को बढ़ाना चाहिए; क्योंकि सब धर्मों (तत्वों) का कारण, हे धर्मज्ञ, इच्छा ही है ॥३१॥

सत्यां गमनबुद्धौ हि गमनाय प्रवर्तते ।
शय्याबुद्धौ च शयनं स्थानबुद्धौ तथा स्थितिः ॥३२॥

क्योंकि चलने की बुद्धि (इच्छा) होने पर मनुष्य चलने में प्रवृत्त होता है, सोने की बुद्धि होने पर सोता है और खड़ा होने की बुद्धि होने पर खड़ा होता है ॥३२॥

अन्तर्भूमिगतं ह्यम्भः श्रद्दधाति नरो यदा ।
अर्थित्वे सति यत्नेन तदा खनति गामिमां ॥३३॥

पृथ्वी के भीतर जल है, यह श्रद्धा (विश्वास) जब मनुष्य को होती है, तब प्रयोजन होने पर वह प्रयत्नपूर्वक पृथ्वी को खनता है ॥३३॥

नार्थी यद्यग्निना वा स्याच्छ्रद्दध्यात्तं न वारणौ ।
मथ्नीयान्नारणिं कश्चित्तद्भावे सति मथ्यते ॥३४॥

यदि अग्निसे प्रयोजन न हो, या यदि अरणि (काष्ठ) में अग्नि है यह श्रद्धा (विश्वास) न हो तो कोई भी मनुष्य अरणि को न रगड़ेगा; किंतु उस (श्रद्धा और प्रयोजन) के होने पर उसे रगड़ते हैं ॥३४॥

सस्योत्पत्तिं यदि न वा श्रद्दध्यात्कार्षकः क्षितौ ।
अर्थी सस्येन वा न स्याद् बीजानि न वपेद् भुवि ॥३५॥

भूमि से अन्न की उत्पत्ति होती है, यदि यह श्रद्धा कृषक को न हो

या यदि अन्न से उसे प्रयोजन न हो, तो वह भूमि में बीज न बोयेगा ॥३५॥

अतश्च हस्त इत्युक्ता मया श्रद्धा विशेषतः ।
यस्माद्गृह्णाति सद्धर्मं दायं हस्त इवाक्षतः ॥३६॥

जैसे हाथ दान ग्रहण करता है, वैसे ही श्रद्धा सद्धर्म को ग्रहण करती है; इसलिए मैंने श्रद्धा को विशेष रूप से हाथ कहा है ॥३६॥

प्राधान्यादिन्द्रियमिति स्थिरत्वाद्बलमित्यतः ।
गुणदारिद्र्यशमनाद्धनमित्यभिवर्णिता ॥३७॥

प्रधान होने के कारण इसे (श्रद्धा को) इन्द्रिय, स्थिर होने के कारण इसे बल और गुणों की दरिद्रता दूर करने के कारण इसे धन बतलाया गया है ॥३७॥

रक्षणार्थेन धर्मस्य तथेषीकेत्युदाहृता ।
लोकेऽस्मिन्दुर्लभत्वाच्च रत्नमित्यभिभाषिता ॥३८॥

उसी प्रकार धर्म की रक्षा कर सकने के कारण इसे ईषिका (नामक अस्त्र-विशेष), और इस लोक में दुर्लभ होने के कारण इसे रत्न कहा गया है ॥३८॥

पुनश्च बीजमित्युक्ता निमित्तं श्रेयसो यदा ।
पावनार्थेन पापस्य नदीत्यभिहिता पुनः ॥३९॥

फिर श्रेय का निमित्त होने के कारण बीज और पाप को पवित्र कर सकने के कारण नदी (तीर्थ) कहा गया है ॥३९॥

३६—'अक्षतः' पाठ अनिश्चित है ।

३९—पा० 'श्रेयसोत्पदा' 'श्रेयसो यतः' ।

यस्माद्धर्मस्य चोत्पत्तौ श्रद्धा कारणमुत्तमं ।
मयोक्ता कार्यतस्तस्मात्तत्र तत्र तथा तथा ॥४०॥

क्योंकि धर्म की उत्पत्ति में श्रद्धा उत्तम कारण है, इसलिए मैंने इसके कार्य के अनुसार इसे ये (उपर्युक्त) नाम दिये हैं ॥४०॥

श्रद्धाङ्कुरमिमं तस्मात्संवर्धयितुमर्हसि ।
तद्वृद्धौ वर्धते धर्मो मूलवृद्धौ यथा द्रुमः ॥४१॥

इसलिए इस श्रद्धा-अङ्कुर को तुम्हें बढ़ाना चाहिये, क्योंकि इसके बढ़ने से धर्म वैसे ही बढ़ता है जैसे जड़ के बढ़ने से वृक्ष ॥४१॥

व्याकुलं दर्शनं यस्य दुर्बलो यस्य निश्चयः ।
तस्य पारिप्लवा श्रद्धा न हि कृत्याय वर्तते ॥४२॥

जिसका विचार (दृष्टि) आकुल है, जिसका निश्चय दुर्बल है उसकी चञ्चल श्रद्धा सफलता के लिये नहीं है ॥४२॥

यावत्तत्त्वं न भवति हि दृष्टं श्रुतं वा
तावच्छ्रद्धा न भवति बलस्था स्थिरा वा ।
दृष्टे तत्त्वे नियमपरिभूतेन्द्रियस्य
श्रद्धावृक्षो भवति सफलश्चाश्रयश्च ॥४३॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये प्रत्ययमर्शो नाम द्वादशः सर्गः ।

जब तक मनुष्य तत्त्व को देख या सुन नहीं लेता है, तब तक उसकी श्रद्धा बलवती या स्थिर नहीं होती है । संयम के द्वारा इन्द्रियों को जीतकर जिसको तत्त्व का दर्शन होता है उसका श्रद्धा-रूपी वृक्ष फल और आश्रय देता है ॥४३॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "विवेक" नामक
द्वादश सर्ग समाप्त ।

*

त्रयोदश सर्ग

शील और इन्द्रिय-संयम

अथ संराधितो नन्दः श्रद्धां प्रति महर्षिणा ।
परिषिक्तोऽमृतेनेव युयुजे परया मुदा ॥१॥

तब महर्षि के द्वारा श्रद्धा (को सबल एवं स्थिर बनाने) के प्रति प्रेरित (प्रोत्साहित) होकर नन्द को बड़ा आनन्द हुआ, जैसे वह अमृत से नहवाया गया हो ॥१॥

कृतार्थमिव तं मेने सबुद्धः श्रद्धया तया ।
मेने प्राप्तमिव श्रेयः स च बुद्धेन संस्कृतः ॥२॥

बुद्ध ने उस श्रद्धा के कारण नन्द को कृतार्थ-सा समझा और बुद्ध से दीक्षित होकर नन्द ने श्रेय (अपने चरम लक्ष्य) को उपस्थित-सा समझा ॥२॥

श्लक्ष्णेन वचसा कांश्चित्कांश्चित्परुषया गिरा ।
कांश्चिद्वाभ्यामुपायाभ्यां स विनिन्ये विनायकः ॥३॥

कतिपयों को कोमल वचन से, कतिपयों को कठोर वचन से और कतिपयों को दोनों ही उपायों से विनायक ने विनीत (दीक्षित) किया ॥३॥

पांसुभ्यः काञ्चनं जातं विशुद्धं निर्मलं शुचि ।
स्थितं पांसुष्वपि यथा पांसुदोषैर्न लिप्यते ॥४॥

जैसे धूल से पैदा होनेवाला सोना विशुद्ध निर्मल और पवित्र होता

है और धूल में रहकर भी वह धूल के दोषों से लिप्त नहीं होता है, ।।४।।

पद्मपर्णं यथा चैव जले जातं जले स्थितं ।
उपरिष्टादधस्ताद्वा न जलेनोपलिप्यते ।।५।।

और जैसे जल में उत्पन्न होकर जल में ही रहनेवाला कमल का पत्ता ऊपर या नीचे जल से लिप्त नहीं होता है, ।।५।।

तद्वल्लोके मुनिर्जातो लोकस्यानुग्रहं चरन् ।
कृतित्वान्निर्मलत्वाच्च लोकधर्मैर्न लिप्यते ।।६।।

वैसे ही संसार में उत्पन्न होकर, संसार के ऊपर अनुग्रह करते हुए, मुनि अपनी पवित्रता एवं निर्मलता के कारण सांसारिक धर्मों से लिप्त नहीं होते हैं ।।६।।

श्लेषं त्यागं प्रियं रूक्षं कथां च ध्यानमेव च ।
मन्तुकाले चिकित्सार्थं चक्रे नात्मानुवृत्तये ।।७।।

उपदेश- काल में उन्होंने, चिकित्सा के लिए न कि अपनी अनुकूलता के लिए, आलिङ्गन और परित्याग, प्यार और रूखापन, कथा और ध्यान का सहारा लिया ।।७।।

अतश्च संदधे कायं महाकरुणया तया ।
मोचयेयं कथं दुःखात्सत्त्वानीत्यनुकम्पकः ।।८।।

और इसलिए 'जीवों को दुःख से कैसे छुड़ाऊँ' इस प्रकार अनुकम्पा करते हुए उन्होंने महाकरुणा के वशीभूत होकर शरीर धारण किया ।।८।।

७—पा० 'मन्त्रकाले' ।

अथ संहर्षणान्नन्दं विदित्वा भाजनीकृतं ।
अब्रवीद्ब्रुवतां श्रेष्ठः क्रमज्ञः श्रेयसां क्रमं ॥६॥

तब अपनी प्रेरणा (प्रोत्साहन) के फलस्वरूप नन्द को पात्र (योग्य) हुआ समझकर, क्रमको जाननेवाले वक्ता—श्रेष्ठ ने श्रेय का क्रम बतलाया:— ॥९॥

अतः प्रभृति भूयस्त्वं श्रद्धेन्द्रियपुरःसरः ।
अमृतस्याप्तये सौम्य वृत्तं रक्षितुमर्हसि ॥१०॥

"अब से तुम श्रद्धारूपी साधन से सुसज्जित होकर, हे सौम्य, अमृत की प्राप्ति के लिए अपने आचार (शील) की रक्षा करो ॥१०॥

प्रयोगः कायवचसोः शुद्धो भवति ते यथा ।
उत्तानो विवृतो गुप्तोऽनवच्छिद्रस्तथा कुरु ॥११॥

ऐसा करो जिससे तुम्हारे शरीर और वचन का व्यापार (कर्म) शुद्ध होकर प्रकट (स्पष्ट), आवरण-रहित (खुला हुआ), सुरक्षित और निर्दोष हो जाय; ॥११॥

उत्तानो भावकरणाद्विवृतश्चाप्यगूहनात् ।
गुप्तो रक्षणतात्पर्यादच्छिद्रश्चानवद्यतः ॥१२॥

अपने भावों को स्पष्ट करने से प्रकट, कुछ भी नहीं छिपाने से आवरण-रहित, रक्षण (इन्द्रिय—संवर) में तत्परता दिखलाने से सुरक्षित और दोष—रहित होने से निर्दोष हो जाय ॥१२॥

शरीरवचसोः शुद्धौ सप्तांगे चापि कर्मणि ।
आजीवसमुदाचारं शौचात्संस्कर्तुमर्हसि ॥१३॥

शरीर और वचन की शुद्धि में तथा (उनके) सात कर्मों की शुद्धि

में अपनी आजीविका के सम्पर्क को शुद्ध करो, ॥१३॥

दोषानां कुहनादीनां पञ्चानामनिषेवणात् ।
त्यागाच्च ज्योतिषादीनां चतुर्णां वृत्तिघातिनां ॥१४॥

कपट आदि पाँच दोषों को छोड़कर तथा सद्वृत्ति की हत्या करनेवाले ज्योतिष आदि चार (व्यवसायों) का परित्याग कर ॥१४॥

प्राणिधान्यधनादीनां वर्ज्यानामप्रतिग्रहात् ।
भैक्षाङ्गानां निसृष्टानां नियतानां प्रतिग्रहात ॥१५॥

जीवन, अन्न, धन आदि वर्जित वस्तुओं को ग्रहण नहीं करके तथा भिक्षा-वृत्ति के निश्चित नियमों का पालन करके (अपनी आजीविका को शुद्ध करो) ॥१५॥

परितुष्टः शुचिर्मञ्जुश्चौक्षया जीवसंपदा ।
कुर्या दुःखप्रतीकारं यावदेव विमुक्तये ॥१६॥

१३—पा० 'शौचात्' अनिश्चित है । शरीर के तीन अच्छे कर्म जीव-हिंसा—चोरी और व्यभिचार नहीं करना । वचन के चार अच्छे कर्म—झूठ कठोर फजूल नहीं बोलना और चुगली नहीं करना ।

१३-१५—स्पष्टता के लिए देखिये बु० च० छब्बीस २७-२९ ।

१५—यदि 'भैक्षान्नानां' पाठ होता तो अर्थ यों होता 'नियमानुसार प्राप्त भिक्षा का अन्न ग्रहण करके' ।

१६—दूसरे पाद का अर्थ अस्पष्ट है । उत्तरार्ध का यह अर्थ भी हो सकता है— '(भूख प्यास जाड़ा आदि) दुःख का (अन्न जल वस्त्र आदि से) उतना ही प्रतीकार करते रहो जितना कि मुक्ति के लिए आवश्यक है' । दुःख-प्रतीकार के लिए देखिये बु० च० ग्यारह ३९-४० ।

संतुष्ट पवित्र मधुर-भाषी और शुद्ध आजीविका वाला होकर तब तक दुःख का प्रतिकार करते रहो जब तक (दुःख से) मुक्ति न हो जाय ॥१६॥

कर्मणो हि यथादृष्टात्कायवाक्प्रभवादपि ।
आजीवः पृथगेवोक्तो दुःशोधत्वादयं मया ॥१७॥

शरीर और वचन का जो कर्म देखा जाता है उससे आजीविका को अलग ही कहा गया है, इसलिए कि आजीविका को शुद्ध करना दुष्कर है ॥१७॥

गृहस्थेन हि दुःशोधा दृष्टिर्विविधदृष्टिना ।
आजीवो भिक्षुणा चैव परेष्टायत्तवृत्तिना ॥१८॥

विविध दृष्टियों वाले गृहस्थ के लिए दृष्टि को शुद्ध करना दुष्कर है और भिक्षु की वृत्ति दूसरों के अधीन होने के कारण उसके लिए आजीविका शुद्ध करना कठिन है ॥१८॥

एतावच्छीलमित्युक्तमाचारोऽयं समासतः
अस्य नाशेन नैव स्यात्प्रव्रज्या न गृहस्थता ॥१९॥

यही इतना शील है। संक्षेप में यही आचार है, जिसका नाश होने पर न प्रव्रज्या रहेगी और न गृहस्थता ॥१९॥

१७—शरीर और वचन का कर्म ही आजीविका है, अष्टांगिक मार्ग में शरीर और वचन के कर्म के अतिरिक्त आजीविका को पृथक् स्थान मिला है, इसलिए कि आजीविका की शुद्धि दुष्कर है।

१८—पा० "परेच्छा०"।

तस्माच्चारित्रसंपन्नो ब्रह्मचर्यमिदं चर ।

अणुमात्रेष्ववद्येषु भयदर्शी दृढव्रतः ॥२०॥

इसलिए सदाचार से युक्त होकर इस ब्रह्मचर्य (श्रेष्ठ जीवन) का आचरण करो; अत्यन्त सूक्ष्म दोषों में भी भय देखते हुए अपना व्रत दृढ़ रखो ॥२०॥

शीलमास्थाय वर्तन्ते सर्वा हि श्रेयसि क्रियाः ।

स्थानाद्यानीव कार्याणि प्रतिष्ठाय वसुन्धरां ॥२१॥

शील का सहारा लेकर सभी श्रेयस्कर कार्य सम्पन्न होते हैं, जैसे पृथ्वी के आश्रय से खड़ा होना आदि कार्य होते हैं ॥२१॥

मोक्षस्योपनिषत्सौम्य वैराग्यमिति गृह्यतां ।

वैराग्यस्यापि संवेदः संविदो ज्ञानदर्शनं ॥२२॥

मोक्ष का उपनिषद् (आधार, समीप ले जाने वाला), हे सौम्य, वैराग्य है, ऐसा समझो । वैराग्य का भी उपनिषद् सम्यक् ज्ञान है और सम्यक् ज्ञान का उपनिषद् ज्ञान का दर्शन है ॥२२॥

ज्ञानस्योपनिषच्चैव समाधिरुपधार्यतां ।

समाधेरप्युपनिषत्सुखं शारीरमानसं ॥२३॥

ज्ञान का उपनिषद् समाधि समझो, समाधि का भी उपनिषद् शारीरिक और मानसिक सुख समझो ॥२३॥

प्रश्रब्धिः कायमनसः सुखस्योपनिषत्परा ।

प्रश्रब्धेरप्युपनिषत्प्रीतिरप्यवगम्यतां ॥२४॥

शारीरिक और मानसिक सुख का उपनिषद् है परम शान्ति और

२२—'संवेद' के स्थान में 'निर्वेद' पढ़ना भी उपयुक्त होगा ।

शान्ति का भी उपनिषद् प्रीति जानो ॥२४॥

तथा प्रीतेरुपनिषत्प्रामोद्यं परमं मतं।
प्रामोद्यस्याप्यहृल्लेखः कुकृतेष्वकृतेषु वा ॥२५॥

प्रीति का उपनिषद् परम आनन्द माना गया है और आनन्द का भी उपनिषद् है कुकार्यों और अकार्यों से मन में पीड़ा का न होना ॥२५॥

अहृल्लेखस्य मनसः शीलं तूपनिषच्छुचि।
अतः शीलं नयत्यग्र्यमिति शीलं विशोधय ॥२६॥

मानसिक पीड़ा का अभाव का उपनिषद् है पवित्र शील। इस प्रकार शील ही प्रधान है और (श्रेष्ठता की ओर) ले जानेवाला (नेता है), इसलिए शील को शुद्ध करो ॥२६॥

शीलनाच्छीलमित्युक्तं शीलनं सेवनादपि।
सेवनं तन्निदेशाच्च निदेशश्च तदाश्रयात् ॥२७॥

शीलन से शील कहा गया है, शीलन सेवन (अर्थात बार बार के अभ्यास) से होता है, सेवन किसी चीज के लिए उत्कट इच्छा होने से होता है और इच्छा उसके ही आश्रय से होती है ॥२७॥

शीलं हि शरणं सौम्य कान्तार इव दैशिकः।
मित्रं बन्धुश्च रक्षा च धनं च बलमेव च ॥२८॥

शील, हे सौम्य, शरण है, जंगल में पथ-प्रदर्शक के समान है मित्र बन्धु रक्षक धन और बल है ॥२८॥

यतः शीलमतः सौम्य शीलं संस्कर्तुमर्हसि।
एतत्स्थानमथान्ये च मोक्षारम्भेषु योगिनां ॥२९॥

क्योंकि शील ऐसा है, इसलिए शील को तुम्हें शुद्ध करना चाहिये,

मोक्ष के लिए आरम्भ करनेवाले योगियों के लिए यह अनन्य (एकमात्र) सहारा है ॥२९॥

ततः स्मृतिमधिष्ठाय चपलानि स्वभावतः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो निवारयितुमर्हसि ॥३०॥

तब स्मृति को स्थिर करके तुम्हें स्वभाव से चञ्चल इन्द्रियों को विषयों से हटाना चाहिये ॥३०॥

भेतव्यं न तथा शत्रोर्नाग्नेर्नाहेर्न चाशनेः।
इन्द्रियेभ्यो यथा स्वेभ्यस्तैरजस्रं हि हन्यते ॥३१॥

शत्रु अग्नि सर्प और वज्र से उतना नहीं डरना चाहिये जितना कि अपने ही इन्द्रियों से, जो निरन्तर चोट करते रहते हैं ॥३१॥

द्विषद्भिः शत्रुभिः कश्चित्कदाचित्पीड्यते न वा ।
इन्द्रियैर्बाध्यते सर्वः सर्वत्र च सदैव च ॥३२॥

द्वेष करनेवाले शत्रुओं से कोई कभी पीड़ित होता है या नहीं भी, किंतु इन्द्रियों से सभी सर्वत्र और सदा ही पीड़ित होते रहते हैं ॥३२॥

न च प्रयाति नरकं शत्रुप्रभृतिभिर्हतः
कृष्यते तत्र निघ्नस्तु चपलैरिन्द्रियैर्हतः ॥३३॥

शत्रु आदि से मारा जाकर मनुष्य नरक नहीं जाता है, किंतु चपल इन्द्रियों से मारा जाकर बेचारा वहाँ घसीट कर ले गया जाता है ॥३३॥

हन्यमानस्य तैर्दुःखं हार्दं भवति वा न वा ।
इन्द्रियैर्बाध्यमानस्य हार्दं शारीरमेव च ॥३४॥

उन (शत्रुओं) के द्वारा मारे जाते हुए को हार्दिक (मानसिक,

२९—मैंने 'मनन्यं' पढ़कर और जौन्स्टन ने 'मथान्येषु' पढ़कर अर्थ किया है ।

आध्यात्मिक) दुखः होता है या नहीं भी, किंतु इन्द्रियों से पीड़ित होनेवाले को हार्दिक और शारीरिक दोनों ही दुःख होते हैं ।।३४।।

संकल्पविषदिग्धा हि पञ्चेन्द्रियमयाः शराः ।
चिन्तापुङ्खा रतिफला विषयाकाशगोचराः ।।३५।।

सङ्कल्परूपी विष से लिप्त पञ्च इन्द्रिय रूपी तीर, चिन्ताएँ ही जिनके पुङ्ख हैं और रति (आनन्द, भोग) ही जिनका लक्ष्य है, विषयरूपी आकाश में चलते हैं ।।३५।।

मनुष्यहरिणान् घ्नन्ति कामव्याधेरिता हृदि ।
विहन्यन्ते यदि न ते ततः पतन्ति तैः क्षताः ।।३६।।

कामरूपी व्याध से सञ्चालित होकर वे मनुष्य रूपी हरिणों के हृदय में चोट करते हैं; यदि वे रोके न जायँ तो उनसे घायल होकर मनुष्य गिर पड़ते हैं ।।३६।।

नियमाजिरसंस्थेन धैर्यकार्मुकधारिणा ।
निपतन्तो निवार्यास्ते महता स्मृतिवर्मणा ।।३७।।

नियम रूपी आङ्गनमें खड़ा होकर, धैर्यरूपी धनुष धारण कर, महान् स्मृतिरूपी कवच पहनकर, उन गिरते हुए तीरों को रोकना चाहिए ।।३७।।

इन्द्रियाणामुपशमादरीणां निग्रहादिव ।
सुखं स्वपिति वास्ते वा यत्र तत्र गतोद्धवः ।।३८।।

इन्द्रियों के शान्त होने पर, जैसे शत्रुओं का निग्रह होने पर, मनुष्य जहाँ तहाँ सुखपूर्वक सोता है या निश्चिन्त होकर बैठता है ।।३८।।

३५—पुङ्ख = तीर का हिस्सा, पङ्ख ।

तेषां हि सततं लोके विषयानभिकांक्षतां।
संविन्नैवास्ति कार्पण्याच्छुनामाशावतामिव ॥३६॥

तृष्णावान् कुत्तों की तरह संसार में सदा विषयों की आकाङ्क्षा करनेवालों का ज्ञान नष्ट हो जाता है ॥३६॥

विषयैरिन्द्रियग्रामो न तृप्तिमधिगच्छति।
अजस्रं पूर्यमाणोऽपि समुद्रः सलिलैरिव ॥४०॥

विषयों से इन्द्रिय-समूह को तृप्ति नहीं होती है, जैसे जल-राशि से निरन्तर पूर्ण होते रहने पर भी समुद्र को तृप्ति नहीं होती है ॥४०॥

अवश्यं गोचरे स्वे स्वे वर्तितव्यमिहेन्द्रियैः
निमित्तं तत्र न ग्राह्यमनुव्यञ्जनमेव च ॥४१॥

इन्द्रिय तो अपने अपने क्षेत्र (विषय) में रहेंगे ही; किंतु उसमें निमित्त (लिङ्ग, आकृति आदि) और अनुव्यञ्जन को ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥४१॥

आलोक्य चक्षुषा रूपं धातुमात्रे व्यवस्थितः।
स्त्री वेति पुरुषो वेति न कल्पयितुमर्हसि ॥४२॥

नेत्र से रूप को देखकर (उसके आधारभूत पृथिवी आदि) धातुओं में ही अपना ध्यान स्थिर करना चाहिए; स्त्री है या पुरुष ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए ॥४२॥

सचेत्स्त्रीपुरुषग्राहः क्वचिद्विद्येत कश्चन।
शुभतः केशदन्तादीन्नानुप्रस्थातुमर्हसि ॥४३॥

स्त्री है या पुरुष, ऐसी कोई समझ यदि कहीं हो भी जाय, तो केश और दाँत आदि में तुम्हें सौन्दर्य नहीं देखना चाहिए ॥४३॥

नापनेयं ततः किंचित्प्रक्षेप्यं नापि किंचन ।
द्रष्टव्यं भूततो भूतं यादृशं च यथा च यत् ॥४४॥

उस (रूप) से न कुछ हटाना चाहिए और न उसमें कुछ जोड़ना ही चाहिए। रूप को ठीक ठीक देखना चाहिए कि वह कैसा कैसे और क्या है ॥४४॥

एवं ते पश्यतस्तत्त्वं शश्वदिन्द्रियगोचरे ।
भविष्यति पदस्थानं नाभिध्यादौर्मनस्ययोः ॥४५॥

जब तुम इन्द्रियों के क्षेत्र (विषयों) में इस प्रकार तत्त्व को निरन्तर देखते रहोगे तो अभिध्या (लोभ) और दौर्मनस्य (संताप, अरुचि), (तुम्हारे चित्त में) पाँव न जमा सकेंगे ॥४५॥

अभिध्या प्रियरूपेण हन्ति कामात्मकं जगत् ।
अरिर्मित्रमुखेनेव प्रियवाक्कलुषाशयः ॥४६॥

अभिध्या आकर्षक रूप द्वारा कामासक्त जगत् की हत्या करती है, जैसे पाप आशय वाला शत्रु मित्र की तरह मुख से प्रिय वचन कहता हुआ (बुराई करता है) ॥४६॥

दौर्मनस्याभिधानस्तु प्रतिघो विषयाश्रितः ।
मोहाद्येनानुवृत्तेन परत्रेह च हन्यते ॥४७॥

विषयाश्रित प्रतिघ (अरुचि, विद्वेष) का ही नाम दौर्मनस्य है; मोह से मनुष्य इसके वशीभूत होकर इहलोक और परलोक में नष्ट होता है ॥४७॥

अनुरोधविरोधाभ्यां शीतोष्णाभ्यामिवार्दितः ।
शर्म नाप्नोति न श्रेयश्चलेन्द्रियमतो जगत् ॥४८॥

सर्दी और गर्मी की तरह अनुकूलता और प्रतिकूलता से पीड़ित होकर जीव-लोक न शान्ति प्राप्त करता है और न श्रेय; अतः उसके इन्द्रिय चञ्चल हैं ॥४८॥

नेन्द्रियं विषये तावत्प्रवृत्तमपि सज्जते ।
यावन्न मनसस्तत्र परिकल्पः प्रवर्तते ॥४९॥

विषय (के सम्पर्क) में रहकर भी इन्द्रिय तब तक उसमें आसक्त नहीं होता है, जब तक तत्सम्बन्धी मानसिक सङ्कल्प (कल्पना, विचार) नहीं होता है ॥४९॥

इन्धने सति वायौ च यथा ज्वलति पावकः ।
विषयात्परिकल्पाच्च क्लेशाग्निर्जायते तथा ॥५०॥

जैसे जलावन और हवा दोनों के रहने पर अग्नि प्रज्वलित होती है, वैसे ही विषय और कल्पना दोनों के होने से क्लेशाग्नि की उत्पत्ति होती है ॥५०॥

अभूतपरिकल्पेन विषयस्य हि बध्यते ।
तमेव विषयं पश्यन् भूततः परिमुच्यते ॥५१॥

विषय की अयथार्थ कल्पना से मनुष्य बाँधा जाता है और उसी विषय को ठीक ठीक देखता हुआ मुक्त होता है ।।५१।।

दृष्ट्वैक रूपमन्यो हि रज्यतेऽन्यः प्रदुष्यति ।
कश्चिद्भवति मध्यस्थस्तत्रैवान्यः घृणायते ॥५२॥

एक ही रूप को देखकर कोई अनुराग करता है, कोई दोष देखता है, कोई मध्यस्थ (उदासीन) रहता है और कोई घृणा करता है ॥५२॥

तस्मादेषामकुशलकराणामरीणां
चक्षुर्घ्राणश्रवणरसनस्पर्शनानां ।
सर्वावस्थं भव विनियमादप्रमत्तो
मास्मिन्नर्थे क्षणमपि कृथास्त्वं प्रमादं ॥५६॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये शीलेन्द्रियजयो नाम त्रयोदशः सर्गः ।

इसलिए सभी अवस्थाओं में, दृष्टि घ्राण श्रवण आस्वाद और स्पर्श—इन बुराई करनेवाले शत्रुओं का नियन्त्रण करने में सावधान रहो। इस विषय में तुम क्षण भर भी प्रमाद मत करो ॥५६॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य में शील और इन्द्रिय-संयम
नामक त्रयोदश सर्ग समाप्त ।

५६—पा० 'सर्वावस्थासु भव नियमाद्'।

चतुर्दश सर्ग

आदि-प्रस्थान *

अथ स्मृतिकवाटेन पिधायेन्द्रियसंवरं ।
भोजने भव मात्राज्ञो ध्यानायानामयाय च ॥१॥

स्मृतिरूपी किवाड़ से इन्द्रियरूपी बाँध को बन्द करके ध्यान और आरोग्य के लिए भोजन की मात्रा जानो ॥१॥

प्राणापानौ निगृह्णाति ग्लानिनिद्रे प्रयच्छति ।
कृतो ह्यत्यर्थमाहारो विहन्ति च पराक्रमं ॥२॥

यदि अधिक भोजन किया जाय तो वह प्राण-वायु और अपान-वायु में रुकावट डालता है, आलस्य और नींद लाता है, तथा पराक्रम की हत्या करता है ॥२॥

यथा चात्यर्थमाहारः कृतोऽनर्थाय कल्पते ।
उपयुक्तस्तथात्यल्पो न सामर्थ्याय कल्पते ॥३॥

जिस प्रकार अधिक भोजन करने से अनर्थ होता है उसी प्रकार अत्यल्प भोजन करने से शक्ति नहीं होती है ॥३॥

आचयं द्युतिमुत्साहं प्रयोगं बलमेव च ।
भोजनं कृतमत्यल्पं शरीरस्यापकर्षति ॥४॥

अत्यल्प भोजन करने से शरीर की पुष्टि कान्ति उत्साह प्रयोग और बल का ह्रास होता है ॥४॥

---

* प्रस्थान = विजय-यात्रा, इन्द्रियों को जीतने के लिए प्रस्थान ।

यथा भारेण नमते लघुनोन्नमते तुला ।
समातिष्ठति युक्तेन भोज्येनेयं तथा तनुः ॥५॥

जैसे अधिक भार से तुला (पलड़ा) झुकती है, हलके भार से उठती है और उचित भार से समान रहती है उसी प्रकार (अधिक अल्प एवं युक्त) आहार से यह शरीर (क्रमशः भारी क्षीण और ठीक होता है) ॥५॥

तस्मादभ्यवहर्तव्यं स्वशक्तिमनुपश्यता ।
नातिमात्रं न चात्यल्पं मेयं मानवशादपि ॥६॥

इस लिए अपनी शक्ति को देखते हुए भोजन करना चाहिए; मान के वशीभूत होकर भी न बहुत अधिक और न बहुत कम ही खाना (मापना, काढ़ना) चाहिए ॥६॥

अत्याक्रान्तो हि कायाग्निर्गुरुणान्नेन शाम्यति ।
अवच्छन्न इवाल्पोऽग्निः सहसा महतेन्धसा ॥७॥

शरीर की अग्नि अन्न के भार से दबकर ऐसे शान्त हो जाती है जैसे थोड़ी सी आग हठात् ही जलावन के बोझ से ढककर बुझ जाती है ॥७॥

अत्यन्तमपि संहारो नाहारस्य प्रशस्यते ।
अनाहारो हि निर्वाति निरिन्धन इवानलः ॥८॥

भोजन बिलकुल छोड़ देना भी प्रशंसनीय नहीं है; क्योंकि भोजन नहीं करनेवाला मनुष्य इन्धन-रहित अग्नि के समान शान्त हो जाता है ॥८॥

यस्मान्नास्ति विनाहारात्सर्वप्राणभृतां स्थितिः।
तस्माद्दुष्यति नाहारो विकल्पोऽत्र तु वार्यते ॥९॥

क्योंकि भोजन के विना कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता, इसलिए भोजन में दोष नहीं है, किंतु भोजन-विशेष (भोजन का चुनाव) निषिद्ध है ।९॥

न ह्येकविषयेऽन्यत्र सज्यन्ते प्राणिनस्तथा।
अविज्ञाते यथाहारे बोद्धव्यं तत्र कारणं ॥१०॥

प्राणी दूसरे किसी एक विषय में उतना आसक्त नहीं होते हैं, जितना कि अज्ञात (विशिष्ट ?) भोजन में। इसका कारण जानना चाहिए ॥१०॥

चिकित्सार्थं यथा धत्ते व्रणस्यालेपनं व्रणी।
क्षुद्विघातार्थमाहारस्तद्वत्सेव्यो मुमुक्षुणा ॥११॥

घायल आदमी जैसे घाव की चिकित्सा के लिए मलहम लगाता है, वैसे ही मुक्ति चाहनेवाले को भूख मिटाने के लिए भोजन का सेवन करना चाहिए ॥११॥

भारस्योद्वहनार्थं च रथाक्षोऽभ्यज्यते यथा।
भोजनं प्राणयात्रार्थं तद्वद्विद्वान्निषेवते ॥१२॥

जैसे भार ढोने के लिए रथ के धुरे में चर्बी लगाई जाती है वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्य जीवन-यात्रा के लिए भोजन का सेवन करता है ॥१२॥

समतिक्रमणार्थं च कान्तारस्य यथाध्वगौ।
पुत्रमांसानि खादेतां दम्पती भृशदुःखितौ ॥१३॥

जिस प्रकार यात्री दम्पती मरुभूमि को पार करने के लिए अत्यन्त दुःखी होकर अपने पुत्र का मांस खायें, ॥१३॥

एवमभ्यवहर्तव्यं भोजनं प्रतिसंख्यया ।
न भूषार्थं न वपुषे न मदाय न दृप्तये ॥१४॥

उसी प्रकार समझ-बूझ कर भोजन करना चाहिए; सौन्दर्य रूप मद या औद्धत्य के लिए नहीं खाना चाहिए ॥१४॥

धारणार्थं शरीरस्य भोजनं हि विधीयते ।
उपस्तम्भः पिपतिषोर्दुर्बलस्येव वेश्मनः ॥१५॥

शरीर धारण करने के लिए ही भोजन विहित है, जैसे गिरते हुए दुर्बल घर की रक्षा के लिए उसमें उपस्तम्भ (खम्भा) लगाया जाता है ॥१५॥

प्लवं यत्नाद्यथा कश्चिद्बध्नीयाद्धारयेदपि ।
न तत्स्नेहेन यावत्तु महौघस्योत्तितीर्षया ॥१६॥

जैसे कोई मनुष्य नाव को, उसके स्नेह से नहीं किंतु बाढ़ पार करने की इच्छा से, यत्नपूर्वक बनाये और ढोये भी ॥१६॥

तथोपकरणैः कायं धारयन्ति परीक्षकाः ।
न तत्स्नेहेन यावत्तु दुःखौघस्य तितीर्षया ॥१७॥

वैसे ही दार्शनिक (योगाभ्यासी) लोग शरीर को, उसके स्नेह से नहीं किंतु दुःखरूप बाढ़ को पार करने की इच्छा से, (भोजन आदि आवश्यक) उपकरणों द्वारा धारण करते हैं ॥१७॥

शोचता पीड्यमानेन दीयते शत्रवे यथा ।
न भक्त्या नापि तर्षेण केवलं प्राणगुप्तये ॥१८॥

जैसे (शत्रुद्वारा) पीड़ित होकर कोई मनुष्य (द्रव्य आदि) जो कुछ शत्रु को देता है वह भक्ति से नहीं, इच्छा से (या किसी वस्तु की तृष्णा से) नहीं, किंतु केवल प्राण-रक्षा के लिए ही शोकपूर्वक देता है, ॥१८॥

योगाचारस्तथाहारं शरीराय प्रयच्छति ।
केवलं क्षुद्विघातार्थं न रागेण न भक्तये ॥१९॥

वैसे ही योगाभ्यासी मनुष्य शरीर को जो आहार देता है वह अनुराग या भक्ति से नहीं, किंतु केवल भूख मिटाने के लिए ही देता है ॥१९॥

मनोधारणया चैव परिणाम्यात्मवानहः ।
विधूय निद्रां योगेन निशामप्यतिनामयेः ॥२०॥

संयतात्मा होकर दिवस को मनोनिग्रह में बिताओ और निद्रा को दूर करके रात्रि को भी योगाभ्यास में विताओ ॥२०॥

हृदि यत्संज्ञिनश्चैव निद्रा प्रादुर्भवेत्तव ।
गुणवत्संज्ञितां संज्ञां तदा मनसि मा कृथाः ॥२१॥

संज्ञा (चेतना, होश) के रहते यदि तुम्हारे हृदय में निद्रा का प्रादुर्भाव हो तो उस संज्ञा को अपने मन में उत्तम संज्ञा मत समझो ॥२१॥

धातुरारम्भधृत्योश्च स्थामविक्रमयोरपि ।
नित्यं मनसि कार्यस्ते बाध्यमानेन निद्रया ॥२२॥

नींद से पीड़ित होने पर आरम्भ (उद्योग) और धैर्य तथा शक्ति और पराक्रम के तत्त्वों का अपने मन में चिन्तन करो ॥२२॥

आम्नातव्याश्च विशदं ते धर्मा ये परिश्रुताः
परेभ्यश्चोपदेष्टव्याः संचिन्त्याः स्वयमेव च ॥२३॥

जिन धर्मों को तुमने सुना है उनका साफ साफ पाठ करो, दूसरों को उपदेश दो और स्वयं भी चिन्तन करो ॥२३॥

प्रक्लेद्यमद्भिर्वदनं विलोक्याः सर्वतो दिशः ।
चार्या दृष्टिश्च तारासु जिजागरिषुणा सदा ॥२४॥

सदा जागरण की इच्छा करनेवाले को जल से मुख भिगोना चाहिए, चारों ओर दृष्टि-पात करना चाहिए और तारात्रों की ओर देखना चाहिए ॥२४॥

अन्तर्गतैरचपलैर्वशस्थायिभिरिन्द्रियैः ।
अविक्षिप्तेन मनसा चंक्रम्यस्वास्व वा निशि ॥२५॥

इन्द्रियों को भीतर की ओर (अन्तर्मुख), स्थिर और वश में करके शान्त चित्त से चंक्रमण (चहल कदमी) करो या बैठे रहो ॥२५॥

भये प्रीतौ च शोके च निद्रया नाभिभूयते ।
तस्मान्निद्राभियोगेषु सेवितव्यमिदं त्रयं ॥२६॥

भय प्रीति और शोक में मनुष्य निद्रा से पीड़ित नहीं होता है, इसलिए निद्रा का आक्रमण होते समय इन तीनों का सेवन करना चाहिए ॥२६॥

भयमागमनान्मृत्योः प्रीतिं धर्मपरिग्रहात् ।
जन्मदुःखादपर्यन्ताच्छोकमागन्तुमर्हसि ॥२७॥

मृत्यु आ रही है इस प्रकार (मृत्यु से) भय, धर्म ग्रहण कर रहा हूँ इस प्रकार (धर्म से) प्रीति और जन्म का दुःख अनन्त है इस प्रकार (जन्म के लिए) शोक करना चाहिए ॥२७॥

एवमादिः क्रमः सौम्य कार्यो जागरणं प्रति ।
वन्ध्यं हि शयनादायुः कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ॥२८॥

जागरण के लिए, हे सौम्य, इस और ऐसे ही क्रम का सेवन करना

चाहिए; क्योंकि कौन ज्ञानवान् मनुष्य सोकर पनी आयु को निष्फल करेगा? ॥२८॥

दोषव्यालानतिक्रम्य व्यालान् गृहगतानिव।
क्षमं प्राज्ञस्य न स्वप्तुं निस्तितीर्षोर्महद्भयं ॥२६॥

जैसे घर में रहनेवाले साँपों की अवहेलना करके समझदार आदमी के लिए सोना उचित नहीं है, वैसे ही दोषरूपी सर्पों की उपेक्षा करके महाभय को पार करने की इच्छा करनेवाले ज्ञानी के लिए सोना उचित नहीं है ॥२९॥

प्रदीप्ते जीवलोके हि मृत्युव्याधिजराग्निभिः।
कः शयीत निरुद्वेगः प्रदीप्त इव वेश्मनि ॥३०॥

जैसे जलते हुए घर में कोई भी आदमी निश्चिन्त होकर नहीं सो सकता, वैसे ही मृत्यु व्याधि और जरारूपी अग्नियों से प्रज्वलित जीव-लोक में कौन निर्भय होकर सोयेगा? ॥३०॥

तस्मात्तम इति ज्ञात्वा निद्रां नावेष्टुमर्हसि।
अप्रशान्तेषु दोषेषु सशस्त्रेष्विव शत्रुषु ॥३१॥

इसलिए जब तक शस्त्र-युक्त शत्रुओं के समान तुम्हारे दोष शान्त नहीं हो जाते तब तक निद्रा को मानसिक अन्धकार समझकर अपने को उसके वशीभूत न होने दो ॥३१॥

पूर्वं यामं त्रियामायाः प्रयोगेणातिनाम्य तु।
सेव्या शय्या शरीरस्य विश्रामार्थं स्वतन्त्रिणा ॥३२॥

तीन प्रहर वाली रात्रि के प्रथम प्रहर को योगाभ्यास में बिताकर,

---

३२—पा० 'मतन्त्रिणा'।

(दूसरे प्रहर में) शरीर के विश्राम के लिए सावधान होकर शय्या का सेवन करो ।।३२।।

दक्षिणेन तु पार्श्वेन स्थितयालोकसंज्ञया ।
प्रबोधं हृदये कृत्वा शयीथाः शान्तमानसः ।।३३।।

दाईं करवट से, आलोक (प्रकाश) की भावना करते हुए, हृदय में ज्ञान (होश) रखकर, शान्तचित्त होकर सोओ ।।३३।।

यामे तृतीये चोत्थाय चरन्नासीन एव वा ।
भूयो योगं मनःशुद्धौ कुर्वीथा नियतेन्द्रियः ।।३४।।

और तीसरे पहर में उठकर, टहलते हुए या बैठे हुए ही, संयतेन्द्रिय होकर मानसिक शुद्धि में पुनः योगारूढ़ हो जाओ ।।३४।।

अथासनगतस्थानप्रेक्षितव्याहृतादिषु ।
संप्रजानन् क्रियाः सर्वाः स्मृतिमाधातुमर्हसि ।।३५।।

बैठते चलते खड़ा होते देखते बोलते और ऐसे ही दूसरे कार्य करते समय, अपने सभी कार्योंको अच्छी तरह जानते हुए (अनुभव करते हुए), अपनी स्मृति (जागरूकता) को स्थिर रखो ।।३५।।

द्वाराध्यक्ष इव द्वारि यस्य प्रणिहिता स्मृतिः ।
धर्षयन्ति न तं दोषाः पुरं गुप्तमिवारयः ।।३६।।

द्वार पर नियुक्त द्वाराध्यक्ष के समान जिसकी स्मृति स्थिर है उसके ऊपर दोषों का आक्रमण नहीं होता है जैसे कि रक्षित नगर पर शत्रुओं का आक्रमण नहीं होता है ।।३६।।

न तस्योत्पद्यते क्लेशो यस्य कायगता स्मृतिः ।
चित्तं सर्वास्ववस्थासु बालं धात्रीव रक्षति ।।३७।।

उस मनुष्य को कोई क्लेश (दोष) नहीं हो सकता जिसकी काय-गत (शरीरमें लगी हुई) स्मृति सभी अवस्थाओं में उसके चित्त की, जैसे धाई बालक की, रक्षा करता है ॥३७॥

शरव्यः स तु दोषाणां यो हीनः स्मृतिवर्मणा ।

रणस्थः प्रतिशत्रूणां विहीन इव वर्मणा ॥३८॥

दोषों का लक्ष्य वही आदमी होता है जो स्मृतिरूपी कवच से हीन है, जैसे प्रतिपक्षी शत्रुओं का लक्ष्य वही योद्धा होता है जो कवच से रहित है ॥३८॥

अनाथं तन्मनो ज्ञेयं यत्स्मृतिर्नाभिरक्षति ।

निर्णेता दृष्टिरहितो विषमेषु चरन्निव ॥३९॥

स्मृतिद्वारा अरक्षित चित्त को वैसे ही अनाथ समझना चाहिए, जैसे पथ-प्रदर्शक के विना विषम स्थलों पर चलता हुआ दृष्टि-रहित मनुष्य असहाय होता है ॥३९॥

अनर्थेषु प्रसक्ताश्च स्वार्थेभ्यश्च पराङ्मुखाः ।

यद्भये सति नोद्विग्नाः स्मृतिनाशोऽत्र कारणं ॥४०॥

लोग अनर्थों में आसक्त होते हैं, स्वार्थों (अपने उत्तम लक्ष्य) से विमुख रहते हैं और भय के रहते उद्विग्न (भयभीत) नहीं होते हैं, इसका कारण है स्मृति-विनाश ॥४०॥

स्वभूमिषु गुणाः सर्वे ये च शीलादयः स्थिताः ।

विकीर्णा इव गा गोपः स्मृतिस्ताननुगच्छति ॥४१॥

स्मृति अपने अपने क्षेत्र में रहनेवाले शील आदि सभी सद्गुणों का अनुसरण करती है, जैसे कि गोप बिखरी हुई गौओं का पीछा करता है ॥४१॥

प्रनष्टममृतं तस्य यस्य विप्रसृता स्मृतिः ।

हस्तस्थममृतं तस्य यस्य कायगता स्मृतिः ॥४२॥

जिसकी स्मृति बहकी हुई है उसका अमृत (श्रेय) नष्ट हो गया। जिसकी स्मृति उसके शरीर में लगी हुई है उसके हाथ में अमृत है ॥४२॥

आर्यो न्यायः कुतस्तस्य स्मृतिर्यस्य न विद्यते ।

यस्यार्यो नास्ति च न्यायः प्रनष्टस्तस्य सत्पथः ॥४३॥

जिसको स्मृति नहीं है उसको आर्य न्याय (सत्य) कहाँ से प्राप्त होगा ? और जिसको आर्य न्याय (सत्य) नहीं है उसका सन्मार्ग नष्ट हो गया ॥४३॥

प्रनष्टो यस्य सन्मार्गो नष्टं तस्यामृतं पदं ।

प्रनष्टममृतं यस्य स दुःखान्न विमुच्यते ॥४४॥

जिसका सन्मार्ग नष्ट हो गया उसका अमृत पद नष्ट हो गया। जिसका अमृत पद नष्ट हो गया वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता ॥४४॥

तस्माच्चरन् चरोऽस्मीति स्थितोऽस्मीति च धिष्ठितः ।

एवमादिषु कालेषु स्मृतिमाधातुमर्हसि ॥४५॥

इसलिए चलता हुआ 'चल रहा हूँ' खड़ा हुआ 'खड़ा हूँ, ऐसे ही दूसरे कार्य करते समय अपनी स्मृति बनाये रहो ॥४५॥

योगानुलोमं विजनं विशब्दं शय्यासनं सौम्य तथा भजस्व ।

कायस्य कृत्वा हि विवेकमादौ सुखोऽधिगन्तुं मनसो विवेकः ॥४६॥

हे सौम्य, योग के अनुकूल निर्जन और निःशब्द शय्या और आसन का सेवन करो। क्योंकि पहले शरीर को एकान्त में कर लेने पर मानसिक एकान्त (एकाग्रता) आसानी से प्राप्त हो सकता है ॥४६॥

अलब्धचेत:प्रशमः सरागो यो न प्रचारं भजते विविक्तं ।
स क्षण्यते ह्यप्रतिलब्धमार्गश्चरन्निवोर्व्यां बहुकण्टकायां ॥४७॥

जो राग से युक्त है, जो एकान्त में नहीं रहता है, और जिसने मानसिक शान्ति नहीं पाई है वह मार्ग नहीं पा सकने के कारण कण्टकाकीर्ण भूमि पर चलते हुए के समान कष्ट पाता है ॥४७॥

अदृष्टतत्त्वेन परीक्षकेण स्थितेन चित्रे विषयप्रचारे ।
चित्तं निषेद्धुं न सुखेन शक्यं कृष्टादको गौरिव सस्यमध्यात् ॥४८॥

जिस परीक्षक (जिज्ञासु, योगी, दार्शनिक) ने तत्त्व का दर्शन नहीं किया है और जो विविध विषयों के बीच पड़ा हुआ वह अपने चित्त को आसानी से नहीं रोक सकता है, जैसे खेती खाने (चरने) वाले साँढ़ को फसल के बीच से आसानी से नहीं हटाया जा सकता ॥४८॥

अनीर्यमाणस्तु यथानिलेन प्रशान्तिमागच्छति चित्रभानुः ।
अल्पेन यत्नेन तथा विविक्तेऽवघट्टितं शान्तिमुपैति चेतः ॥४९

जिस प्रकार हवा से नहीं प्रेरित होती हुई अग्नि शान्त हो जाती है उसी प्रकार एकान्त में प्रकम्पनरहित चित्त अल्प यत्न से शान्ति को प्राप्त होता है ॥४९॥

क्वचिद्भुक्त्वा यत्तद्वसनमपि यत्तत्परिहितो
वसन्नात्मारामः क्वचन विजने योऽभिरमते ।
कृतार्थः स ज्ञेयः शमसुखरसज्ञः कृतमतिः
परेषां संसर्गं परिहरति यः कण्टकमिव ॥५०॥

जहाँ कहीं भी जो-सो खाकर, जैसा-तैसा कपड़ा पहनकर, और जहाँ-कहीं भी रहकर जो आत्म-तुष्ट रहता है, निर्जन स्थान में रमण

५०—पा० 'परेभ्यः' ।

करता है और दूसरों के संसर्ग से ऐसे बचता है जैसे काँटे से, वह बुद्धिमान् शान्ति-सुख के रस को जानता है और उसे ही कृतार्थ समझना चाहिए ॥५०॥

यदि द्वन्द्वारामे जगति विषयव्यग्रहृदये
विविक्ते निर्द्वन्द्वो विहरति कृती शान्तहृदयः।
ततः पीत्वा प्रज्ञारसममृतवत्तृप्तहृदयो
विविक्तः संसक्तं विषयकृपणं शोचति जगत् ॥५१॥

(सुख-दुःख आदि) द्वन्द्वों में आनन्द पानेवाले एवं विषयों से व्यग्र हृदय वाले जगत् में यदि द्वन्द्व-रहित और शान्तहृदय होकर कोई पवित्रात्मा एकान्त में विहार करता है, तो वह अमृत के समान प्रज्ञा-रस का पान कर तृप्तहृदय और अनासक्त हो जाता है तथा आसक्ति में पड़े हुए एवं विषयों के लिए आतुर जगत् के लिए शोक करता है ॥५१॥

वसञ्शून्यागारे यदि सततमेकोऽभिरमते
यदि क्लेशोत्पादैः सह न रमते शत्रुभिरिव।
चरन्नात्मारामो यदि च पिबति प्रीतिसलिलं
ततो भुङ्क्ते श्रेष्ठं त्रिदशपतिराज्यादपि सुखं ॥५२॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्य आदिप्रस्थानो नाम चतुर्दशः सर्गः।

यदि वह सूने घर में सदा अकेला ही रमण करता है यदि क्लेशों (दोषों) के कारणों से ऐसे दूर रहता है जैसे शत्रुओं से और यदि आत्म-तुष्ट रहता हुआ प्रीति-जल का पान करता है तो वह देवेन्द्र के राज्य से भी उत्तम सुख का भोग करता है ॥५२

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "आदि-प्रस्थान"
नामक चतुर्दश सर्ग समाप्त।

*

पञ्चदश सर्ग

वितर्क-प्रहाण *

यत्र तत्र विविक्ते तु बद्ध्वा पर्यङ्कमुत्तमं ।

ऋजुं कायं समाधाय स्मृत्याभिमुखयान्वितः ॥१॥

जहाँ-कहीं एकान्त में उत्तम आसन बाँधकर शरीर को सीधा कर, स्मृति को सन्मुख रखकर, ॥१॥

नासाग्रे वा ललाटे वा भ्रुवोरन्तर एव वा ।

कुर्वीथाश्चपलं चित्तमालम्बनपरायणं ॥२॥

अपने चञ्चल चित्त को नाक की नोक पर, या ललाट पर या दोनों भौंहों के बीच में, किसी भी एक चीज में लगाओ ॥२॥

स चेत्कामवितर्कस्त्वां धर्षयेन्मानसो ज्वरः ।

क्षेप्तव्यो नाधिवास्यः स वस्त्रे रेणुरिवागतः ॥३॥

यदि काम-सम्बन्धी विचार—वह मानसिक ताप—तुम्हें तंग करे तो कपड़े में पड़ी धूल के समान उसे दूर फेंक दो, ठहरने मत दो ॥३॥

यद्यपि प्रतिसंख्यानात्कामानुत्सृष्टवानसि ।

तमांसीव प्रकाशेन प्रतिपक्षेण ताञ्जहि ॥४॥

यद्यपि सोच-समझ कर (ज्ञानपूर्वक) तुमने कामों (भोगों, विषयों) का परित्याग कर दिया है, तो भी प्रतिपक्ष-भावना (विपरीत पदार्थ) द्वारा उन्हें मार डालो, जैसे कि प्रकाश द्वारा अन्धकार का नाश किया जाता है ॥४॥

---

* अकुशल विचारों का विनाश मानसिक शुद्धि ।

तिष्ठत्यनुशयस्तेषां छन्नोऽग्निरिव भस्मना।
स ते भावनया सौम्य प्रशाम्योऽग्निरिवाम्बुना ॥५॥

राख से ढकी हुई अग्नि के समान उन (कामों) का अनुशय (संस्कार) रह जाता है, भावना द्वारा, हे सौम्य, उसे ऐसे नष्ट कर दो जैसे कि जल से अग्नि को शान्त करते हैं। ॥५॥

ते हि तस्मात्प्रवर्तन्ते भूयो बीजादिवाङ्कुराः।
तस्य नाशेन ते न स्युर्बीजनाशादिवाङ्कुराः ॥६॥

वे (काम) उस (अनुशय) से (मौका पाकर) फिर ऐसे प्रकट हो जाते हैं, जैसे कि बीज से अङ्कुर उग आते हैं। उसका नाश होनेपर वे फिर प्रकट न हो सकेंगे, जैसे कि बीज का नाश होने पर फिर अङ्कुर न उग सकेंगे। ॥६॥

अर्जनादीनि कामेभ्यो दृष्ट्वा दुःखानि कामिनां।
तस्मात्तान्मूलतश्छिन्धि मित्रसंज्ञानरीनिव ॥७॥

कामासक्त व्यक्तियों को कामों (भोगों) की प्राप्ति आदि (= प्राप्ति, रक्षा, नाश) में जो दुःख होते हैं उन्हें देखो और मित्र की तरह दिखाई पड़नेवाले (अपने को मित्र घोषित करने वाले) शत्रुओं के समान उन्हें जड़-मूल से काट डालो। ॥७॥

अनित्या मोषधर्माणो रिक्ता व्यसनहेतवः।
बहुसाधारणाः कामा बर्ह्या ह्याशीविषा इव ॥८॥

काम (विषय, भोग) अनित्य, नाशवान्, खाली (असार), विपत्तियों के कारण-स्वरूप और बहुजन-भोग्य हैं, अतः विषधर सर्पों के समान वे मार डाले जाने योग्य हैं। ॥८॥

ये मृग्यमाणा दुःखाय रक्ष्यमाणा न शान्तये ।
भ्रष्टाः शोकाय महते प्राप्ताश्च न वितृप्तये ॥६॥

उनकी खोज करने में दुःख है, उनकी रक्षा करने में शान्ति नहीं है, उनके नष्ट होने पर महान् शोक होता है, और उनके प्राप्त होने पर तृप्ति नहीं होती है। ॥९॥

तृप्तिं वित्तप्रकर्षेण स्वर्गावाप्त्या कृतार्थतां ।
कामेभ्यश्च सुखोत्पत्तिं यः पश्यति स नश्यति ॥१०॥

धन की अधिकता से तृप्ति होती है, स्वर्ग की प्राप्ति से कृतार्थता होती है और कामों (भोगों) से सुख की उत्पत्ति होती है, ऐसा जो देखता है वह नष्ट होता है। ॥१०॥

चलानपरिनिष्पन्नानसारानवस्थितान् ।
परिकल्पसुखान् कामान्न तान्स्मर्तुमिहार्हसि ॥११॥

काम चञ्चल अवास्तविक असार और अस्थिर हैं, उनसे होनेवाला सुख काल्पनिक है, अतः तुम्हें उनका स्मरण भी नहीं करना चाहिए। ॥११॥

व्यापादो वा विहिंसा वा क्षोभयेद्यदि ते मनः ।
प्रसाद्यं तद्विपक्षेण मणिनेवाकुलं जलं ॥१२॥

यदि द्रोह (विद्वेष) या हिंसा तुम्हारे चित्त को क्षुब्ध करे तो उनके प्रतिपक्ष (भाव) द्वारा अपने चित्त को शुद्ध करो, जैसे गन्दे जल को मणि से निर्मल करते हैं। ॥१२॥

प्रतिपक्षस्तयोर्ज्ञेयो मैत्री कारुण्यमेव च ।
विरोधो हि तयोर्नित्यं प्रकाशतमसोरिव ॥१३॥

मैत्री और करुणा को उनका प्रतिपक्ष समझना चाहिए; क्योंकि जैसे प्रकाश और अन्धकार के बीच वैसे ही उनके बीच शाश्वत विरोध है। ॥१३॥

निवृत्तं यस्य दौःशील्यं व्यापादश्च प्रवर्तते ।
हन्ति पांसुभिरात्मानं स स्नात इव वारणः ॥१४॥

जिसका दुराचरण चला गया है, किंतु द्रोह (विद्वेष) विद्यमान है वह नहाये हुए हाथी के समान धूल से अपने को नष्ट (गंदा) करता है। ॥१४॥

दुःखितेभ्यो हि मर्त्येभ्यो व्याधिमृत्युजरादिभिः ।
आर्यः को दुःखमपरं सघृणो धातुमर्हति ॥१५॥

व्याधि मृत्यु और जरा आदि से दुःखित प्राणियों को कौन दयालु सज्जन और भी दुःख देना चाहेगा ? ॥१५॥

दुष्टेन चेह मनसा बाध्यते वा परो न वा ।
सद्यस्तु दह्यते तावत्स्वं मनो दुष्टचेतसः ॥१६॥

(द्रोह और हिंसा से) अपने चित्त के दूषित होने पर दूसरे को पीड़ा हो सकती है या नहीं भी, किंतु दूषित चित्त वाले का अपना ही मन तत्क्षण जलने लगता है। ॥१६॥

तस्मात्सर्वेषु भूतेषु मैत्रीं कारुण्यमेव च ।
न व्यापादं विहिंसां वा विकल्पयितुमर्हसि ॥१७॥

इसलिए तुम्हें सब जीवों के प्रति मैत्री और करुणा की ही भावना करनी चाहिए, द्रोह या हिंसा की नहीं। ॥१७॥

१५--पा० 'ध्यातुमर्हति'।

यद्यदेव प्रसक्तं हि वितर्कयति मानवः ।
अभ्यासात्तेन तेनास्य नतिर्भवति चेतसः ॥१८॥

मनुष्य जिस जिस (वस्तु, विचार) का लगातार चिन्तन करता है अभ्यासवश उसी उसी की ओर उसका मन झुक जाता है । ॥१८॥

तस्मादकुशलं त्यक्त्वा कुशलं ध्यातुमर्हसि ।
यत्ते स्यादिह चार्थाय परमार्थस्य चाप्तये ॥१९॥

इसलिए तुम्हें अकुशल (बुरे) को छोड़कर कुशल (अच्छे) का ही ध्यान करना चाहिए, जिससे कि इसलोक में तुम्हारा लाभ हो और परमार्थ की प्राप्ति हो । ॥१९॥

संवर्धन्ते ह्यकुशला वितर्काः संभृता हृदि ।
अनर्थजनकास्तुल्यमात्मनश्च परस्य च ॥२०॥

हृदय में अकुशल वितर्कों (विचारों) को स्थान देने से वे बढ़ते ही जाते हैं और अपने लिए तथा दूसरे के लिए समान रूप से अनर्थकारी होते हैं । ॥२०॥

श्रेयसो विघ्नकरणाद्भवन्त्यात्मविपत्तये ।
पात्रीभावोपघातात्तु परभक्तिविपत्तये ॥२१॥

अपने श्रेय (कल्याण) में विघ्न उपस्थित करके वे (अकुशल वितर्क) अपनी विपत्ति के लिए कारणरूप होते हैं तथा अपनी पात्रता का नाश करके दूसरों की भक्ति को भी नष्ट करते हैं । ॥२१॥

मनः कर्मस्वविक्षेपमपि चाभ्यस्तुमर्हसि ।
नत्वेवाकुशलं सौम्य वितर्कयितुमर्हसि ॥२२॥

१८—पा० 'गतिर्भवति' ।

मानसिक कर्मों (= विचारों) में विक्षेप (= विघ्न) न हो इसका भी अभ्यास करना चाहिए, हे सौम्य, अकुशल वितर्कों का तो तुम्हें चिन्तन ही न करना चाहिए। ॥२२॥

या त्रिकामोपभोगाय चिन्ता मनसि वर्तते।
न च तं गुणमाप्नोति बन्धनाय च कल्पते ॥२३॥

विविध कामोपभोग की जो चिन्ता मन में रहती है वह उत्तम नहीं है, उससे बन्धन होता है, ॥२३॥

सत्त्वानामुपघाताय परिक्लेशाय चात्मनः।
मोहं व्रजति कालुष्यं नरकाय च वर्तते ॥२४॥

प्राणियों का नाश होता है, अपने को ही क्लेश होता है, मोह एवं पाप होता है, तथा नरक मिलता है। ॥२४॥

तद्वितर्कैरकुशलैर्नात्मानं हन्तुमर्हसि।
सुशस्त्रं रत्नविकृतं मृद्धतो गां खनन्निव ॥२५॥

इसलिए जैसे (असावधानी से) पृथ्वी को खनता हुआ मनुष्य अपने को धूल से ढककर अपने सुन्दर शस्त्र को रत्न (पत्थर) के सम्पर्कसे विकृत करता है वैसे ही अकुशल वितर्कों से अपने को नष्ट मत करो। ॥२५॥

२४—'व्रजति' के स्थान में मैंने 'करोति' पढ़ा है। जौन्स्टन ने 'कालुष्यं' (= चित्त की कलुषित अवस्था) को कर्ता मानकर तथा लाहा ने 'चात्मनः' के बदले 'वा मनः' पाठ के अनुसार मन को कर्त्ता मानकर अर्थ किया है।

२५—जौन्स्टन के अनुसारः—

इसलिए, जैसे पृथ्वी को खनता हुआ मनुष्य अपने शस्त्र-सुसज्जित एवं रत्नों से अलङ्कृत शरीर पर धूल फेंकता है, वैसे ही (स्मृति आदि शस्त्रों से सुसज्जित एवं त्रिरत्नों से अलंकृत) अपने को अकुशल वितर्कों से नष्ट मत करो।

अनभिज्ञो यथा जात्यं दहेदगुरु काष्ठवत्।
अन्यायेन मनुष्यत्वमुपहन्यादिदं तथा ॥२६॥

जैसे अनभिज्ञ मनुष्य उत्तम अगुरु काष्ठ को साधारण काष्ठ के समान जला सकता है, वैसे ही अज्ञानी व्यक्ति न्याय का पालन न करके इस दुर्लभ मनुष्यत्व को नष्ट कर सकता है। ॥२६॥

त्यक्त्वा रत्नं यथा लोष्टं रत्नद्वीपाच्च संहरेत्।
त्यक्त्वा नैःश्रेयसं धर्मं चिन्तयेदशुभं तथा ॥२७॥

जैसे कोई मनुष्य रत्नों के द्वीप से रत्न को छोड़कर ढेला ले आये वैसे ही परम कल्याण के साधक धर्म को त्याग कर अशुभ का चिन्तन करे। ॥२७॥

हिमवन्तं यथा गत्वा विषं भुञ्जीत नौषधं।
मनुष्यत्वं तथा प्राप्य पापं सेवेत नो शुभं ॥२८॥

जैसे हिमवन्त में जाकर विष को खा ले, (अमृतस्वरूप) ओषधि को नहीं, वैसे ही (दुर्लभ) मनुष्यत्व (मनुष्य-योनि) को पाकर पाप का सेवन करे, शुभ का नहीं। ॥२८॥

तद्बुद्ध्वा प्रतिपक्षेण वितर्कं क्षेप्तुमर्हसि।
सूक्ष्मेण प्रतिकीलेन कीलं दार्वन्तरादिव ॥२६॥

यह जानकर तुम्हें प्रतिपक्ष-भावना द्वारा (अकुशल) वितर्क का निवारण करना चाहिए, जैसे कि काठ के (छेद के) भीतर से पतली पच्चड़ के द्वारा (बड़ी) पच्चड़ को बाहर कर देते हैं। ॥२९॥

वृद्ध्यवृद्ध्योरथ भवेच्चिन्ता ज्ञातिजनं प्रति।
स्वभावो जीवलोकस्य परीक्ष्यस्तन्निवृत्तये ॥३०॥

यदि अपने भाई-बन्धुओं (स्वजन) की उन्नति-अवनति की चिन्ता तुम्हें सताये तो उसके निवारण के लिए जीव-लोक के (वास्तविक) स्वभाव को परखना चाहिए। ॥३०॥

संसारे कृष्यमाणानां सत्त्वानां स्वेन कर्मणा।
को जनः स्वजनः को वा मोहात्सक्तो जने जनः ॥३१॥

संसार में अपने अपने कर्म से खींचे जाते हुए प्राणियों का कौन स्वजन है या कौन पराया? मोहवश ही (एक) मनुष्य (दूसरे) मनुष्य में आसक्त होता है। ॥३१॥

अतीतेऽध्वनि संवृत्तः स्वजनो हि जनस्तव।
अप्राप्ते चाध्वनि जनः स्वजनस्ते भविष्यति ॥३२॥

तुम्हारा जो (यहाँ) स्वजन है वह अतीत में पराया (अपरिचित) था और जो (अब) पराया है वह भविष्य में तुम्हारा स्वजन होगा। ॥३२॥

विहगानां यथा सायं तत्र तत्र समागमः।
जातौ जातौ तथाश्लेषो जनस्य स्वजनस्य च ॥३३॥

जैसे सायंकाल में स्थान स्थान पर (अपने अपने बसेरे में) पक्षियों का समागम (मिलन) होता है, वैसे ही जन्म जन्म में पराये और स्वजन का सम्बन्ध (स्थापित) होता है। ॥३३॥

प्रतिश्रयं बहुविधं संश्रयन्ति यथाध्वगाः।
प्रतियान्ति पुनस्त्यक्त्वा तद्वज्ज्ञातिसमागमः ॥३४॥

जैसे पथिक अनेक प्रकार के आश्रयोंकी शरण लेते हैं और फिर उन्हें छोड़कर (जहाँ तहाँ) चले जाते हैं, वैसे ही जाति-बन्धुओं का समागम है। ॥३४॥

लोके प्रकृतिभिन्नेऽस्मिन्न कश्चित्कस्यचित्प्रियः ।
कार्यकारणसंबद्धं बालुकामुष्टिवज्जगत् ॥३५॥

इस संसार में, जहाँ स्वभाव से ही भिन्नता है, कोई किसी का प्रिय नहीं है, बालू की मुट्ठी की तरह संसार कार्य और कारण से बँधा हुआ है । ॥३५॥

बिभर्ति हि सुतं माता धारयिष्यति मामिति ।
मातरं भजते पुत्रो गर्भेणाधत्त मामिति ॥३६॥

'यह मेरी रक्षा करेगा' ऐसा सोचकर माता पुत्र का पालन-पोषण करती है, और इसने 'मुझे गर्भ में धारण किया था' ऐसा सोचकर पुत्र माता की सेवा करता है । ॥३६॥

अनुकूलं प्रवर्तन्ते ज्ञातिषु ज्ञातयो यदा ।
तदा स्नेहं प्रकुर्वन्ति रिपुत्वं तु विपर्ययात् ॥३७॥

जब स्वजन स्वजन के प्रति अनुकूल आचरण करते हैं तब वे परस्पर स्नेह करते हैं, किंतु प्रतिकूल आचरण होने से शत्रुता करते हैं । ॥३७॥

अहितो दृश्यते ज्ञातिरज्ञातिर्दृश्यते हितः ।
स्नेहं कार्यान्तराल्लोकश्छिनत्ति च करोति च ॥३८॥

स्वजन शत्रु होते हैं और पराये मित्र होते हैं, ऐसा देखा जाता है; कार्यवश लोग स्नेह करते हैं और तोड़ते हैं । ॥३८॥

स्वयमेव यथालिख्य रज्येच्चित्रकरः स्त्रियं ।
तथा कृत्वा स्वयं स्नेहं संगमेति जने जनः ॥३९॥

जैसे स्वयं ही नारी का चित्र बनाकर चित्रकार उससे अनुराग करने लगे, वैसे ही मनुष्य मनुष्य से स्वयं स्नेह और संगति करता है । ॥३९॥

योऽभवद्बान्धवजनः परलोके प्रियस्तव ।
स ते कमर्थं कुरुते त्वं वा तस्मै करोषि कं ॥४०॥

परलोक (पूर्वजन्म) में जो तुम्हारे प्रिय स्वजन थे उनका तुम कौन उपकार करते हो और वे तुम्हारे लिए क्या करते हैं ? ॥४०॥

तस्माज्ज्ञातिवितर्केण मनो नावेष्टुमर्हसि ।
व्यवस्था नास्ति संसारे स्वजनस्य जनस्य च ॥४१॥

इसलिए स्वजन-सम्बन्धी चिन्ता से अपने मन को आविष्ट मत करो, क्योंकि संसार में अपने और पराये की कोई (स्थायी) व्यवस्था नहीं है । ॥४१॥

असौ क्षेमो जनपदः सुभिक्षोऽसावसौ शिवः ।
इत्येवमथ जायेत वितर्कस्तव कश्चन ॥४२॥

वह देश शान्ति-प्रद, अन्न से भरपूर, और सुखी है, यदि ऐसा कोई विचार तुम्हारे मन में उठे ॥४२॥

प्रहेयः स त्वया सौम्य नाधिवास्यः कथंचन ।
विदित्वा सर्वमादीप्तं तैस्तैर्दोषाग्निभिर्जगत् ॥४३॥

तो, हे सौम्य, उसका परित्याग करो और किसी भी प्रकार उसे ठहरने मत दो, क्योंकि तुम जानते हो कि विविध दोषों की अग्नियों से सारा संसार जल रहा है । ॥४३॥

ऋतुचक्रनिवर्ताच्च क्षुत्पिपासाक्लमादपि ।
सर्वत्र नियतं दुःखं न क्वचिद्विद्यते शिवं ॥४४॥

ऋतु-चक्र के पलटने से तथा भूख प्यास व थकावट से सर्वत्र दुःख ही दुःख है, सुख कहीं नहीं है। ॥४४॥

क्वचिच्छीतं क्वचिद्घर्मः क्वचिद्रोगो भयं क्वचित्।
बाधतेऽभ्यधिकं लोकं तस्मादशरणं जगत् ॥४५॥

कहीं सर्दी से तो कहीं गर्मी से, कहीं रोग से तो कहीं भय (विपत्ति) से लोग अत्यन्त पीड़ित हो रहे हैं; इसलिए संसार शरण-रहित है। ॥४५॥

जरा व्याधिश्च मृत्युश्च लोकस्यास्य महद्भयं।
नास्ति देशः स यत्रास्य तद्भयं नोपपद्यते ॥४६॥

बुढ़ापा रोग और मृत्यु इस संसार का महाभय है; ऐसा कोई देश नहीं है, जहाँ लोगों को यह (महा-)भय नहीं होता हो। ॥४६॥

यत्र गच्छति कायोऽयं दुःखं तत्रानुगच्छति।
नास्ति काचिद्गतिर्लोके गतो यत्र न बाध्यते ॥४७॥

जहाँ यह शरीर जाता है वहाँ दुःख भी पीछा करता है, संसार में ऐसा कोई आश्रय (ठौर, स्थान) नहीं है जहाँ जाने पर लोग पीड़ित न होते हों। ॥४७॥

रमणीयोऽपि देशः सन्सुभिक्षः क्षेम एव च।
कुदेश इति विज्ञेयो यत्र क्लेशैर्विदह्यते ॥४८॥

४४—तीसरे पाद का अविकल अर्थ होगा—'सर्वत्र दुःख निश्चित (अवश्यंभावी) है।'

४५—पा० 'लोके'।

अन्न से भरपूर रमणीय तथा शान्ति-प्रद (आराम-प्रद) होने पर भी (उस) देश को कुदेश ही समझना चाहिए जहाँ कि लोग क्लेशों से जलते रहते हैं। ॥४८॥

लोकस्याभ्याहतस्यास्य दुःखैः शारीरमानसैः ।
क्षेमः कश्चिन्न देशोऽस्ति स्वस्थो यत्र गतो भवेत् ॥४९॥

शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित रहनेवाले लोगों के लिए ऐसा कोई भी शान्तिप्रद देश नहीं है जहाँ जाकर वे स्वस्थ हो सकें। ॥४९॥

दुःखं सर्वत्र सर्वस्य वर्तते सर्वदा यदा ।
छन्दरागमतः सौम्य लोकचित्रेषु मा कृथाः ॥५०॥

जब कि सर्वत्र सबको सर्वदा दुःख होता ही रहता है, तब, हे सौम्य, संसार की विचित्रताओं (चित्र-विचित्र पदार्थों) में छन्द-राग (आसक्ति, अनुराग, अभिलाषा) न करो। ॥५०॥

यदा तस्मान्निवृत्तस्ते छन्दरागो भविष्यति ।
जीवलोकं तदा सर्वमादीप्तमिव मंस्यसे ॥५१॥

इसलिए, जब तुम्हारा छन्दराग निवृत्त हो जायगा तब समस्त जीव- लोक जैसे जल रहा हो, ऐसा समझोगे। ॥५१॥

अथ कश्चिद्वितर्कस्ते भवेदमरणाश्रयः ।
यत्नेन स विहन्तव्यो व्याधिरात्मगतो यथा ॥५२॥

'मैं मरूँगा नहीं' इस आधार पर यदि कोई विचार तुम्हारे मन में उठे तो उसे अपने शरीर में उत्पन्न हुए रोगके समान मार डालो। ॥५२॥

मुहूर्तमपि विश्रम्भः कार्यो न खलु जीविते ।
निलीन इव हि व्याघ्रः कालो विश्वस्तघातकः ॥५३॥

मुहूर्त भर के लिए भी इस जीवन में विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि छिपे हुए बाघ के समान काल विश्वास करनेवाले (निश्शङ्क रहनेवाले) की हत्या करता है । ॥५३॥

बलस्थोऽहं युवा वेति न ते भवितुमर्हति ।
मृत्युः सर्वास्ववस्थासु हन्ति नावेक्षते वयः ॥५४॥

'मैं बलवान् हूँ या युवा हूँ' ऐसा भाव तुम्हारे मन में नहीं होना चाहिए । मृत्यु सब अवस्थाओं में मारती है, (युवा-) अवस्था का ख्याल नहीं करती है । ॥५४॥

क्षेत्रभूतमनर्थानां शरीरं परिकर्षतः ।
स्वास्थ्याशा जीविताशा वा न दृष्टार्थस्य जायते ॥५५॥

अनर्थों के क्षेत्ररूप शरीर को घसीटते हुए तत्त्वदर्शी को स्वास्थ्य या जीवन की आशा (तृष्णा) नहीं होती है । ॥५५॥

निर्वृतः को भवेत्कायं महाभूताश्रयं वहन् ।
परस्परविरुद्धानामहीनामिव भाजनं ॥५६॥

परस्पर—विरोधी सर्पों के (रहने के) पात्र के समान (पञ्च-) महाभूतों के आश्रयरूप शरीर को ढोता हुआ कौन मनुष्य सुखी हो सकता है ? ॥५६॥

प्रश्वसित्ययमन्वक्षं यदुच्छ्वसिति मानवः ।
अवगच्छ तदाश्चर्यमविश्वास्यं हि जीवितं ॥५७॥

यह मानव साँस लेता (खींचता) है और फिर तुरन्त ही छोड़ता

है, इसे आश्चर्य समझो; क्योंकि जीवन विश्वसनीय नहीं है। ॥५७॥

इदमाश्चर्यमपरं यत्सुप्तः प्रतिबुध्यते।

स्वपित्युत्थाय वा भूयो बह्वमित्रा हि देहिनः ॥५८॥

यह दूसरा आश्चर्य है कि सोया हुआ मनुष्य जग उठता है और उठकर फिर सो रहता है; क्योंकि शरीर-धारी के अनेक शत्रु हैं। ॥५८॥

गर्भात्प्रभृति यो लोकं जिघांसुरनुगच्छति।

कस्तस्मिन्विश्वसेन्मृत्यावुद्यतासावरराविव ॥५९॥

गर्भ-काल से ही जो (मृत्यु) लोगों को मारने की इच्छा से उनका पीछा करती है, तलवार उठाये हुए शत्रु के समान उस मृत्यु में कौन विश्वास करेगा ? । ॥५९॥

प्रसूतः पुरुषो लोके श्रुतवान्बलवानपि।

न जयत्यन्तकं कश्चिन्नाजयन्नापि जेष्यति ॥६०॥

संसार में उत्पन्न हुआ मनुष्य, विद्वान् और बलवान् होने पर भी, मृत्यु को न जीत सकता है, न जीत सका है, और न जीत सकेगा। ॥६०॥

साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन नियमेन वा।

प्राप्तो हि रभसो मृत्युः प्रतिहन्तुं न शक्यते ॥६१॥

साम दान भेद दण्ड और नियम (संयम) किसी (उपाय) से भी, वेगपूर्वक पहुँची हुई मृत्यु को नहीं रोका जा सकता है। ॥६१॥

तस्मान्नायुषि विश्वासं चञ्चले कर्तुमर्हसि।

नित्यं हरति कालो हि स्थाविर्यं न प्रतीक्षते ॥६२॥

इसलिए तुम्हें चञ्चल जीवन में विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि काल नित्य ही (लोगों का) हरण कर रहा है, बुढ़ापे की प्रतीक्षा नहीं करता है। ॥६२॥

निःसारं पश्यतो लोकं तोयबुद्बुददुर्बलं ।
कस्यामरवितर्को हि स्यादनुन्मत्तचेतसः ॥६३॥

संसारको पानी के बुलबुलेके समान दुर्बल (क्षण-भंगुर) तथा असार देखता हुआ कौन स्वस्थचित्त व्यक्ति सोचेगा कि वह अमर है? ॥६३॥

तस्मादेषां वितर्काणां प्रहाणार्थं समासतः ।
आनापानस्मृतिं सौम्य विषयीकर्तुमर्हसि ॥६४॥

इसलिए, हे सौम्य, इन (अकुशल) वितर्कों के विनाश के लिए, संक्षेप में, प्रश्वास और निःश्वास की स्मृति को बश में करो। ॥६४॥

इत्यनेन प्रयोगेण काले सेवितुमर्हसि ।
प्रतिपक्षान्वितर्काणां गदानामगदानिव ॥६५॥

इसी प्रकार समय पर तुम्हें (अकुशल) वितर्कों के (विनाश-के लिए) प्रतिपक्षों का चिन्तन करना चाहिए, जैसे रोग (दूर करने) के लिए औषधि का सेवन करते हैं। ॥६५॥

सुवर्णहेतोरपि पांसुधावको
विहाय पांसून्बृहतो यथादितः ।
जहाति सूक्ष्मानपि तद्विशुद्धये
विशोध्य हेमावयवान्नियच्छति ॥६६॥

जिस प्रकार सुवर्ण प्राप्त करनेके लिए धूल धोनेवाला आदमी आरम्भ से ही बड़े बड़े धूल के कणों को निकालता हुआ, उसकी (अत्यन्त) शुद्धि

के लिए बारीक कणों को भी निकालता है और शुद्ध करके सुवर्ण-कणों को रख लेता है। ॥६६॥

विमोक्षहेतोरपि युक्तमानसो
विहाय दोषान्बृहतस्तथादितः।
जहाति सूक्ष्मानपि तद्विशुद्धये
विशोध्य धर्मावयवान्नियच्छति ॥६७॥

उसी प्रकार मुक्ति प्राप्त करने के लिए योगी आरम्भ से ही बड़े-बड़े दोषों को छोड़ता हुआ, चित्त की (अत्यन्त) शुद्धि के लिए सूक्ष्म दोषों को भी छोड़ता है और शुद्ध करके धर्म के अवयवों को रख लेता है। ॥६७॥

क्रमेणाद्भिःशुद्धं कनकमिह पांसुव्यवहितं
यथाग्नौ कर्मारः पचति भृशमावर्तयति च।
तथा योगाचारो निपुणमिह दोषव्यवहितं
विशोध्य क्लेशेभ्यः शमयति मनः संक्षिपति च ॥६८॥

जिस प्रकार इस संसार में सुनार धूल से ढके हुए सोने को क्रमपूर्वक जल से शुद्ध करके अग्नि में पकाता (तपाता) है और बार बार उलटता-पुलटता है, उसी प्रकार योगाचारी व्यक्ति दोष-युक्त चित्त को दोषों से अच्छी तरह शुद्ध करके, अपने मन को शान्त और संकुचित करता है। ॥६८॥

यथा च स्वच्छन्दादुपनयति कर्माश्रयसुखं
सुवर्णं कर्मारो बहुविधमलंकारविधिषु।

मनःशुद्धो भिक्षुर्वशगतमभिज्ञास्वपि तथा
यथेच्छं यत्रेच्छं शमयति मनः प्रेरयति च ॥६९॥
सौन्दरनन्दे महाकाव्ये वितर्कप्रहाणो नाम पञ्चदशः सर्गः ।

और जिस प्रकार सुनार अनेक प्रकार से प्रस्तुत तथा आसानी से काम करने लायक सोने को स्वेच्छानुसार भाँति भाँति के अलङ्कारों में परिणत कर देता है, उसी प्रकार जिस भिक्षु ने मन को शुद्ध कर लिया है और ऋद्धियों (दिव्य शक्तियों) के सम्बन्ध में अपने मन को वश में कर लिया है वह, जैसे चाहता है और जहां चाहता है, अपने मन को शान्त कर लेता है और प्रेरित करता है । ॥६९॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "वितर्क-प्रहाण" नामक
पञ्चदश सर्ग समाप्त ।

षोडश सर्ग

आर्य सत्यों की व्याख्या

एवं मनोधारणया क्रमेण व्यपोह्य किंचित्समुपोह्य किंचित् ।
ध्यानानि चत्वार्यधिगम्य योगी प्राप्नोत्यभिज्ञा नियमेन पञ्च ॥१॥

इस प्रकार मानसिक एकाग्रता द्वारा क्रम से कुछ छोड़कर और कुछ ग्रहण कर योगी चार ध्यानों को प्राप्त करके निश्चय ही (इन) पाँच अभिज्ञाओं को प्राप्त करता है :—॥१॥

ऋद्धिप्रवेकं च बहुप्रकारं परस्य चेतश्चरितावबोधं ।
अतीतजन्मस्मरणं च दीर्घं दिव्ये विशुद्धे श्रुतिचक्षुषी च ॥२॥

अनेक प्रकार की उत्तम ऋद्धियाँ (दिव्य शक्तियाँ) दूसरे के चित्त की गति का ज्ञान, अनेक अतीत जन्मों की स्मृति तथा दिव्य और विशुद्ध श्रोत्र एवं दृष्टि । ॥२॥

अतः परं तत्त्वपरीक्षणेन मनो दधात्यास्रवसंक्षयाय ।
ततो हि दुःखप्रभृतीनि सम्यक्चत्वारि सत्यानि पदान्यवैति ॥३॥

इसके बाद तत्त्व की परीक्षा द्वारा वह अपने मन को आस्रवों (चित्त-मलों) के विनाश में लगाता है; क्योंकि तब वह दुःख आदि चार सत्यों को सम्यक् रूप से जान लेता है । ॥३॥

बाधात्मकं दुःखमिदं प्रसक्तं दुःखस्य हेतुः प्रभवात्मकोऽयं ।
दुःखक्षयो निःसरणात्मकोऽयं त्राणात्मकोऽयं प्रशमाय मार्गः ॥४॥

यह दुःख निरन्तर रहनेवाला है, इसकी आत्मा (धर्म, गुण) है पीड़ा ; यह दुःख का कारण है, इसकी आत्मा है उत्पत्ति ; यह दुःख का क्षय है, इसकी आत्मा है निःसरण (निकलना); यह शान्ति का मार्ग है, इसकी आत्मा है त्राण (रक्षा) । ॥४॥

इत्यार्यसत्यान्यवबुध्य बुद्ध्या चत्वारि सम्यक् प्रतिविध्य चैव ।
सर्वास्रवान् भावनयाभिभूय न जायते शान्तिमवाप्य भूयः ॥५॥

इस प्रकार चार आर्य सत्यों को बुद्धिद्वारा ठीक ठीक समझ बूझ कर और भावनाद्वारा सभी आस्रवों (चित्त- मलों) को जीतकर वह शान्ति प्राप्त करता है और फिर जन्म नहीं लेता है । ॥५॥

अबोधतो ह्यप्रतिवेधतश्च तत्त्वात्मकस्यास्य चतुष्टयस्य ।
भवाद्भवं याति न शान्तिमेति संसारदोलामधिरुह्य लोकः ॥६॥

इस तत्त्वात्मक चार (सत्य—समूह) को न समझ बूझ सकने के कारण मनुष्य संसाररूपी दोला पर चढ़कर एक जन्म से दूसरे जन्म में जाता है और शान्ति नहीं प्राप्त करता है । ॥६॥

तस्माज्जरादेर्व्यसनस्य मूलं समासतो दुःखमवैहि जन्म ।
सर्वौषधीनामिव भूर्भवाय सर्वापदां क्षेत्रमिदं हि जन्म ॥७॥

इसलिए संक्षेप में जानो कि जरा आदि विपत्तियों का मूल जन्मरूपी दुःख है, जैसे सभी ओषधियों की उत्पत्ति भूमि से होती है वैसे ही सभी विपत्तियों का (उत्पत्ति-) क्षेत्र जन्म है । ॥७॥

यज्जन्म रूपस्य हि सेन्द्रियस्य दुःखस्य तन्नैकविधस्य जन्म ।
यः संभवश्चास्य समुच्छ्रयस्य मृत्योश्च रोगस्य च संभवः सः ॥८॥

इन्द्रियों सहित रूप की जो उत्पत्ति है वही उत्पत्ति (कारण) है

निष्पत्ति होती है वहीं दुःख है, इसको छोड़कर और कहीं भी दुःख न है न था और न होगा। ॥१६॥

प्रवृत्तिदुःखस्य च तस्य लोके तृष्णादयो दोषगणा निमित्तं।
नैवेश्वरो न प्रकृतिर्न कालो नापि स्वभावो न विधिर्यदृच्छा ॥१७॥

संसार में इस प्रवृत्ति (जन्म) रूपी दुःख का कारण तृष्णा आदि दोषों का समूह है; ईश्वर प्रकृति काल स्वभाव विधि या संयोग इसका कारण नहीं है। ॥१७॥

ज्ञातव्यमेतेन च कारणेन लोकस्य दोषेभ्य इति प्रवृत्तिः।
यस्माम्प्रियन्ते सरजस्तमस्का न जायते वीतरजस्तमस्कः ॥१८॥

अतः जानना चाहिए कि दोषों से ही संसार की उत्पत्ति होती है; जो रज (मन का मैल) और तम (चित्त का अन्धकार) से युक्त हैं वे (फिर से जन्म लेने के लिए) मरते हैं, किन्तु जिसका रज और तम नष्ट हो गया है वह फिर जन्म नहीं लेता है। ॥१८॥

इच्छाविशेषे सति तत्र तत्र यानासनादेर्भवति प्रयोगः।
यस्मादतस्तर्षवशात्तथैव जन्म प्रजानामिति वेदितव्यं ॥१९॥

उस उस विषय की इच्छा होने पर ही चलने और बैठने आदि की क्रिया होती है, इसलिए जानना चाहिए कि तृष्णा के वशीभूत होने पर ही प्राणियों का जन्म होता है। ॥१९॥

सत्त्वान्यभिष्वङ्गवशानि दृष्ट्वा स्वजातिषु प्रीतिपराण्यतीव।
अभ्यासयोगादुपपादितानि तैरेव दोषैरिति तानि विद्धि ॥२०॥

जीव आसक्तियोंके अधीन और अपने अपने जन्म (जीवन, योनि) से प्रीति करते हुए देखे जाते हैं; (आसक्तियों और प्रीतिके) अभ्यासके कारण

ही वे उन दोषोंके साथ फिर जन्म लेते हैं, ऐसा जानना चाहिए। ॥२०॥

क्रोधप्रहर्षादिभिराश्रयाणामुत्पद्यते चेह यथा विशेषः।
तथैव जन्मस्वपि नैकरूपो निर्वर्तते क्लेशकृतो विशेषः ॥२१॥

जैसे इस संसार में क्रोध और प्रसन्नता आदि के द्वारा प्राणियों में विशेषता होती है (अर्थात् कोई क्रोधी और कोई प्रसन्नचित्त होता है) वैसे ही भिन्न भिन्न जन्मों में अपने अपने दोषों के कारण उनमें अनेक प्रकारकी विशेषता होती है। ॥२१॥

दोषाधिके जन्मनि तीव्रदोष उत्पद्यते रागिणि तीव्ररागः।
मोहाधिके मोहबलाधिकश्च तदल्पदोषे च तदल्पदोषः ॥२२॥

जिसमें दोषों की अधिकता होती है उसका जन्म होने पर तीव्र दोष उत्पन्न होता है, जिसमें (अत्यन्त) राग होता है उसका जन्म होने पर तीव्र राग उत्पन्न होता है, जिसमें मोहाधिक्य होता है उसका जन्म होने पर मोह-बल की अधिकता होती है और जिसमें अल्प दोष होता है उसका जन्म होने पर अल्प दोष होता है। ॥२२॥

फलं हि यादृक् समवैति साक्षात्तदागमाद्बीजमवैत्यतीतं।
अवेत्य बीजप्रकृतिं च साक्षादनागतं तत्फलमभ्युपैति ॥२३॥

मनुष्य फल को साक्षात् जैसा देखता है, उसी के अनुसार उसके ही अतीत (पूर्व) बीज को (वैसा ही) समझ लेता है और बीज के स्वभाव को साक्षात् देखकर उसके अनागत (भावी) फल को भी समझ लेता है। ॥२३॥

दोषक्षयो जातिषु यासु यस्य वैराग्यतस्तासु न जायते सः।
दोषाशयस्तिष्ठति यस्य यत्र तस्योपपत्तिर्विवशस्य तत्र ॥२४॥

जिन (प्रकारों के) जन्मों में जिसके दोषों का नाश हो गया है उनमें वैराग्य होने के कारण वह फिर जन्म नहीं लेता; किन्तु जिन (प्रकारों के जन्मों) में जिसका दोषाशय रह जाता है उनमें वह विवश होकर जन्म लेता है। ॥२४॥

तज्जन्मनो नैकविधस्य सौम्य तृष्णादयो हेतव इत्यवेत्य ।
तांश्छिन्धि दुःखाद्यदि निर्मुमुक्षा कार्यक्षयः कारणसंक्षयाद्धि ॥२५॥

इसलिए, हे सौम्य, अनेक प्रकार के जन्मों के कारण हैं तृष्णा आदि दोष; यदि दुःख से मुक्त होने की इच्छा है तो उन दोषों को काटो, क्योंकि कारण के नाश से कार्य का नाश होता है। ॥२५॥

दुःखक्षयो हेतुपरिक्षयाच्च शान्तं शिवं साक्षिकुरुष्व धर्मं ।
तृष्णाविरागं लयनं निरोधं सनातनं त्राणमहार्यमार्यं ॥२६॥

कारण का नाश होने से दुःख का नाश होता है। शान्त एवं मङ्गल-मय धर्म का साक्षात्कार करो, जो तृष्णा-विनाशक, आश्रय-रूप, निरोध-रूप, सनातन, रक्षक, अविनाशी और पवित्र है। ॥२६॥

यस्मिन्न जातिर्न जरा न मृत्युर्न व्याधयो नाप्रियसंप्रयोगः ।
नेच्छाविपन्न प्रियविप्रयोगः क्षेमं पदं नैष्ठिकमच्युतं तत् ॥२७॥

(उस पद की खोज करो) जिसके प्राप्त होने पर न जन्म होता है, न बुढ़ापा, न मृत्यु, न व्याधि, न अप्रिय--संयोग, न इच्छा-विघात (या इच्छा रूपी विपत्ति) और न प्रिय-वियोग; वह कल्याण-कारी पद नैष्ठिक और अक्षय है। ॥२७॥

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षं ।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिं ॥२८॥

जिस प्रकार निर्वाण को प्राप्त हुआ दीप न पृथ्वी पर रहता है, न आकाश में जाता है, न किसी दिशा या विदिशा में; किंतु तेल समाप्त हो जाने पर केवल शान्ति को प्राप्त होता है; ॥२८॥

एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षं ।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिं ॥२९॥

इसी प्रकार निर्वाण को प्राप्त हुआ धन्य (पुण्यात्मा, पवित्र, साधु) पुरुष न पृथ्वी पर रहता है, न आकाश में जाता है, और न किसी दिशा या विदिशा में ही; किंतु क्लेशों (पापों, दोषों) का नाश होने पर केवल शान्ति को प्राप्त होता है । ॥२९॥

अस्याभ्युपायोऽधिगमाय मार्गः प्रज्ञात्रिकल्पः प्रशमद्विकल्पः ।
स भावनीयो विधिवद्बुधेन शीले शुचौ त्रिप्रमुखे स्थितेन ॥३०॥

इसकी प्राप्ति का उपाय है वह मार्ग, जो त्रिविध प्रज्ञा एवं द्विविध शान्ति से युक्त है; पवित्र त्रिविध शील में स्थित होकर बुद्धिमान् मनुष्य को उस (मार्ग) की भावना करनी चाहिए । ॥३०॥

वाक्कर्म सम्यक् सहकायकर्म यथावदाजीवनयश्च शुद्धः ।
इदं त्रयं वृत्तविधौ प्रवृत्तं शीलाश्रयं कर्मपरिग्रहाय ॥३१॥

वाणी और शरीर के सम्यक् कर्म और शुद्ध आजीविका — ये तीनों आचरण से सम्बन्धित हैं, इनका आश्रय शील है, इनके द्वारा कर्मों का निग्रह होता है । ॥३१॥

सत्येषु दुःखादिषु दृष्टिरार्या सम्यग्वितर्कश्च पराक्रमश्च ।
इदं त्रयं ज्ञानविधौ प्रवृत्तं प्रज्ञाश्रयं क्लेशपरिक्षयाय ॥३२॥

दुःख आदि सत्यों के विषय में सम्यक् दृष्टि, सम्यक् विचार और

सम्यक् प्रयत्न — ये तीन ज्ञान से सम्बन्धित हैं, इनका आश्रय प्रज्ञा है, इनके द्वारा क्लेशों का नाश होता है। ॥३२॥

न्यायेन सत्याधिगमाय युक्ता सम्यक् स्मृतिः सम्यगथो समाधिः।
इदं द्वयं योगविधौ प्रवृत्तं शमाश्रयं चित्तपरिग्रहाय ॥३३॥

सम्यक् स्मृति, जो सत्य की प्राप्ति में न्यायपूर्वक लगी हुई हो तथा सम्यक् समाधि — ये दो योग से सम्बन्धित हैं, इनका आश्रय शम (शान्ति) है, इनके द्वारा चित्त का निग्रह होता है। ॥३३॥

क्लेशांकुरान्न प्रतनोति शीलं बीजांकुरान् काल इवातिवृत्तः।
शुचौ हि शीले पुरुषस्य दोषा मनः सलज्जा इव धर्षयन्ति ॥३४॥

शील के रहते क्लेशों (दोषों) के अंकुर नहीं पनप सकते, जैसे अकाल में बीजों से अंकुर नहीं उग सकते। पवित्र शील में रहनेवाले मनुष्य के मन पर आक्रमण करने में दोष भी मानो लज्जित होते हैं। ॥३४॥

क्लेशांस्तु विष्कम्भयते समाधिर्वेगानिवाद्रिर्महतो नदीनां।
स्थितं समाधौ हि न धर्षयन्ति दोषा भुजंगा इव मन्त्रबद्धाः ॥३५॥

समाधि क्लेशों को रोकती है, जैसे पर्वत नदियों के महावेग में रुकावट डालता है। समाधिस्थ होने पर मन्त्र-बद्ध सर्पों के समान दोष आक्रमण नहीं कर सकते। ॥३५॥

प्रज्ञा त्वशेषेण निहन्ति दोषांस्तीरद्रुमान्प्रावृषि निम्नगेव।
दग्धा यया न प्रभवन्ति दोषा वज्राग्निनेवानुसृतेन वृक्षाः ॥३६॥

प्रज्ञा दोषों को निःशेष मार डालती है, जैसे वर्षाकाल में नदी अपने तटवर्ती वृक्षों को उखाड़ फेंकती है। प्रज्ञा से दग्ध होकर दोष

उत्पन्न नहीं होते, जैसे फैलती हुई वज्राग्नि से जलकर वृक्ष नहीं पनपते। ॥३६॥

त्रिस्कन्धमेतं प्रविगाह्य मार्गं प्रस्पष्टमष्टाङ्गमहार्यमार्यं।
दुःखस्य हेतून्प्रजहाति दोषान्प्राप्नोति चात्यन्तशिवं पदं तत् ॥३७॥

(शील-समाधि-प्रज्ञा रूपी) तीन स्कन्धों वाले इस स्पष्ट अष्टाङ्गिक अविनाशी और आर्य मार्ग पर आरूढ़ होकर मनुष्य दुःख के हेतुरूप दोषों को छोड़ता है और उस अत्यन्त मङ्गलमय (निर्वाण-) पद को प्राप्त करता है। ॥३७॥

अस्योपचारे धृतिरार्जवं च ह्रीरप्रमादः प्रविविक्तता च।
अल्पेच्छता तुष्टिरसंगता च लोकप्रवृत्तावरतिः क्षमा च ॥३८॥

इस (दुःख) के उपचार में धैर्य, सरलता, लज्जा, अप्रमाद (सावधानी), एकान्त, अल्पेच्छता, संतोष, आसक्ति के अभाव, सांसारिक प्रवृत्ति में अरुचि और क्षमा की आवश्यकता होती है। ॥३८॥

याथात्म्यतो विन्दति यो हि दुःखं तस्योद्भवं तस्य च यो निरोधं।
आर्येण मार्गेण स शान्तिमेति कल्याणमित्रैः सह वर्तमानः॥३९॥

जो मनुष्य दुःख, उसकी उत्पत्ति और उसके निरोध को ठीक ठीक जानता है वह कल्याण-कारी मित्रों के साथ रहता हुआ आर्य मार्ग से चलकर शान्ति प्राप्त करता है। ॥३९॥

यो व्याधितो व्याधिमवैति सम्यग् व्याधेर्निदानं च तदौषधं च।
आरोग्यमाप्नोति हि सोऽचिरेण मित्रैरभिज्ञैरुपचर्यमाणः ॥४०॥

जो रोगी रोग रोग-निदान और रोग की ओषधि को ठीक ठीक

जानता है वह निपुण मित्रों की चिकित्सा में रहकर शीघ्र आरोग्य प्राप्त करता है। ॥४०॥

तद्व्याधिसंज्ञां कुरु दुःखसत्ये दोषेष्वपि व्याधिनिदानसंज्ञाम्।
आरोग्यसंज्ञां च निरोधसत्ये भैषज्यसंज्ञामपि मार्गसत्ये ॥४१॥

इसलिए दुःख-सत्य को रोग, दोषों को रोग-निदान, निरोध-सत्य को आरोग्य, तथा मार्ग-सत्य को औषधि समझो। ॥४१॥

तस्मात्प्रवृत्तिं परिगच्छ दुःखं प्रवर्तकानप्यवगच्छ दोषान्।
निवृत्तिमागच्छ च तन्निरोधं निवर्तकं चाप्यवगच्छ मार्गं ॥४२॥

इसलिए दुःख को प्रवृत्ति, दोषों को प्रवर्तक (प्रवृत्ति के कारण), निरोध को निवृत्ति और मार्ग को निवर्तक (निवृत्ति का उपाय) समझो। ॥४२॥

शिरस्यथो वाससि संप्रदीप्ते सत्यावबोधाय मतिर्विचार्या।
दग्धं जगत्सत्यनयं ह्यदृष्ट्वा प्रदह्यते संप्रति धक्ष्यते च ॥४३॥

शिर और वस्त्र के जलते रहने पर भी सत्य के समझने में अपनी बुद्धि को लगाओ; क्योंकि सत्य को नहीं देखने के कारण यह संसार जला है, संप्रति जल रहा है और जलेगा। ॥४३॥

यदैव यः पश्यति नामरूपं क्षयीति तद्दर्शनमस्य सम्यक्।
सम्यक्च निर्वेदमुपैति पश्यन्नन्दीक्षयाच्च क्षयमेति रागः ॥४४॥

जब मनुष्य नामरूप (पंच-स्कन्ध, corporeality) को नाशवान् देखता है तब वह ठीक ठीक देखता है; और ठीक ठीक देखता हुआ वह सम्यक् निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त होता है और नन्दी (तृष्णा) का नाश होने से उसका राग नष्ट हो जाता है। ॥४४॥

तयोश्च नन्दीरजसोः क्षयेण सम्यग्विमुक्तं प्रवदामि चेतः ।
सम्यग्विमुक्तिर्मनसश्च ताभ्यां न चास्य भूयः करणीयमस्ति ॥४५॥

नन्दी और राग का नाश होने से, मैं कहता हूँ, उसके चित्त की सम्यक् मुक्ति होती है और इन दोनों से चित्त की सम्यक् मुक्ति होने पर उसके लिए और कुछ करने को नहीं रह जाता है। ॥४५॥

यथास्वभावेन हि नामरूपं तद्धेतुमेवास्तगमं च तस्य ।
विजानतः पश्यत एव चाहं ब्रवीमि सम्यक्क्षयमास्रवाणां ॥४६॥

जो मनुष्य नामरूप के वास्तविक स्वभाव, उसके कारण और उसके नाश होने को देखता और जानता है, मैं कहता हूँ, उसके आस्रव (चित्त-मल) अत्यन्त क्षीण हो जाते हैं। ॥४६॥

तस्मात्परं सौम्य विधाय वीर्यं शीघ्रं घटस्वास्रवसंक्षयाय ।
दुःखाननित्यांश्च निरात्मकांश्च धातून्विशेषेण परीक्षमाणः ४७॥

इसलिए, हे सौम्य, खूब उद्योग करके आस्रवों को नष्ट करने की चेष्टा करो और दुःखरूप अनित्य तथा अनात्म धातुओं की विशेष रूप से परीक्षा करो। ॥४७॥

धातून्हि षड् भूसलिलानलादीन्सामान्यतः स्वेन च लक्षणेन ।
अवैति यो नान्यमवैति तेभ्यः सोऽत्यन्तिकं मोक्षमवैति तेभ्यः॥४८॥

जो मनुष्य पृथ्वी जल अग्नि आदि छः धातुओं को सामान्य रूप से और विशिष्ट रूप से समझता है और जो उनको छोड़कर और कुछ नहीं है ऐसा समझता है, वह उनसे होनेवाली आत्यन्तिक मुक्ति को समझता है। ॥४८॥

क्लेशप्रहाणाय च निश्चितेन कालोऽभ्युपायश्च परीक्षितव्यः।
योगोऽप्यकाले ह्यनुपायतश्च भवत्यनर्थाय न तद्गुणाय ॥४९॥

जिसने क्लेशों का नाश करने के लिए निश्चय किया है उसको काल और उपाय की परीक्षा करनी चाहिए। असमय में और अनुचित उपाय से यदि योगाभ्यास किया जाय तो उससे भी अनर्थ ही होता है, लाभ नहीं होता है। ॥४९॥

अजातवत्सां यदि गां दुहीत नैवाप्नुयात्क्षीरमकालदोही।
कालेऽपि वा स्यान्न पयो लभेत मोहेन शृङ्गाद्यदि गां दुहीत ॥५०॥

जिस गाय को बछड़ा नहीं हुआ है उसको यदि दूहा जाय तो असमय में दूहनेवाला मनुष्य दूध नहीं पायेगा; या यदि समय पर ही मनुष्य मूढ़तावश गाय के सींग को दूहे तो भी वह दूध नहीं पायेगा! ॥५०॥

आर्द्राच्च काष्ठाज्ज्वलनाभिकामो नैव प्रयत्नादपि वह्निमृच्छेत्।
काष्ठाच्च शुष्कादपि पातनेन नैवाग्निमाप्नोत्यनुपायपूर्वं ॥५१॥

अग्नि चाहनेवाला मनुष्य गीले काठ से प्रयत्न करके भी अग्नि नहीं पायेगा और सूखे काठ को यदि (केवल नीचे) गिरा दे तो (इस) अनुचित उपाय के द्वारा अग्नि नहीं पा सकता है। ॥५१॥

तद्देशकालौ विधिवत्परीक्ष्य योगस्य मात्रामपि चाभ्युपायं।
बलाबले चात्मनि संप्रधार्य कार्यः प्रयत्नो न तु तद्विरुद्धः ॥५२॥

इसलिए देश और काल तथा योग की मात्रा और उपाय की परीक्षा करके, अपने बलाबल (सामर्थ्य) का निश्चय करके प्रयत्न करना चाहिए, उनके विरुद्ध प्रयत्न नहीं करना चाहिए। ॥५२॥

प्रग्राहकं यत्तु निमित्तमुक्तमुद्धन्यमाने हृदि तन्न सेव्यं ।
एवं हि चित्तं प्रशमं न याति ❀ ❀ ❀ ना वह्निरिवेर्यमाणः ॥५३॥

जब हृदय (चित्त) उत्तेजित हो रहा हो तब प्रग्राहक (प्रेरित करनेवाले, उद्योग में लगानेवाले) निमित्त (वस्तु) का सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि इस प्रकार चित्त शान्ति को प्राप्त नहीं होता है, जैसे हवा से प्रेरित होती अग्नि शान्त नहीं होती है। ॥५३॥

शमाय यत्स्यान्नियतं निमित्तं जातोद्धवे चेतसि तस्य कालः ।
एवं हि चित्तं प्रशमं नियच्छेत्प्रदीप्यमानोऽग्निरिवोदकेन ॥५४॥

जब चित्त उत्तेजित हो रहा हो तब शान्तिकारक निमित्त (का सेवन) समयोचित है; क्योंकि इस प्रकार चित्त शान्त हो जाता है जैसे जल से प्रज्वलित अग्नि शान्त होती है। ॥५४॥

शमावहं यन्नियतं निमित्तं सेव्यं न तच्चेतसि लीयमाने ।
एवं हि भूयो लयमेति चित्तमनीर्यमाणोऽग्निरिवाल्पसारः ॥५५॥

जब चित्त आलस्य में डूब रहा हो तब शान्तिकारक निमित्त का सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि इस प्रकार चित्त और भी ठंढा पड़ जाता है, जैसे थोड़ी-सी आग सुलगाई नहीं जाने से बुझ जाती है। ॥५५॥

प्रग्राहकं यन्नियतं निमित्तं लयं गते चेतसि तस्य कालः ।
क्रियासमर्थं हि मनस्तथा स्यान्मन्दायमानोऽग्निरिवेन्धनेन ॥५६॥

जब चित्त आलस्य में डूब रहा हो तब प्रग्राहक (प्रेरक) निमित्त

५३—❀ ❀ ❀ ना='प्रवायुना' ? 'प्र' पूर्वक 'वा' के लिये देखिये 'प्रवास्तु' सौ० सोलह १० ग। निमित्त= भावना की वस्तु, आकार ।

(का सेवन) समयोचित है; क्योंकि इससे चित्त कार्य करने में समर्थ होता है, जैसे कि जलावन के पड़ने से बुझती हुई अग्नि (सुलगती है)। ॥५६॥

औपेक्षिकं नापि निमित्तमिष्टं लयं गते चेतसि सोद्धवे वा।
एवं हि तीव्रं जनयेदनर्थमुपेक्षितो व्याधिरिवातुरस्य ॥५७॥

जब चित्त अलसा रहा हो या उत्तेजित हो रहा हो तब उपेक्षा उत्पन्न करनेवाला निमित्त अभीष्ट नहीं है; क्योंकि इससे बड़ा अनर्थ होता है, जैसे रोगी के रोग की अवहेलना करने से बड़ा अनिष्ट होता है। ॥५७॥

यत्स्यादुपेक्षानियतं निमित्तं साम्यं गते चेतसि तस्य कालः।
एवं हि कृत्याय भवेत्प्रयोगो रथो विधेयाश्व इव प्रयातः ॥५८॥

जब चित्त साम्य अवस्था को प्राप्त हुआ हो तब उपेक्षा उत्पन्न करनेवाला निमित्त समयोचित है; क्योंकि इस प्रकार प्रयोग करने से सफलता मिलती है, जैसे विनीत अश्वोंवाले रथ के चलने से (अभीष्ट स्थान पर पहुँचते हैं)। ॥५८॥

रागोद्धवव्याकुलितेऽपि चित्ते मैत्रोपसंहारविधिर्न कार्यः।
रागात्मको मुह्यति मैत्रया हि स्नेहं कफक्षोभ इवोपयुज्य ॥५९॥

चित्त जब राग की उत्तेजना से व्याकुल हो तब मैत्री-भावना का उपचार नहीं करना चाहिए; क्योंकि रागात्मक (प्रकृति का) मनुष्य मैत्री-भावना के द्वारा मूढ़ता को प्राप्त होता है, जैसे कफ का प्रकोप होने पर (तेल आदि) स्निग्ध पदार्थ का उपयोग करके मनुष्य मूर्छित होता है। ॥५९॥

रागोद्धते चेतसि धैर्यमेत्य निषेवितव्यं त्वशुभं निमित्तं।
रागात्मको ह्येवमुपैति शर्म कफात्मको रूक्षमिवोपयुज्य ॥६०॥

चित्त जब राग से उत्तेजित हो तब धैर्यपूर्वक अशुभ निमित्त का सेवन करना चाहिए; क्योंकि इस प्रकार रागात्मक (प्रकृति का) मनुष्य शान्ति लाभ करता है, जैसे कफात्मक (प्रकृति का) मनुष्य रूखे पदार्थ का उपयोग करके शान्ति प्राप्त करता है। ॥६०॥

व्यापाददोषेण मनस्युदीर्णे न सेवितव्यं त्वशुभं निमित्तं।
द्वेषात्मकस्य ह्यशुभा वधाय पित्तात्मनस्तीक्ष्ण इवोपचारः ॥६१॥

चित्त जब व्यापाद (द्वेष) रूपी दोष से क्षुब्ध हो तब अशुभ निमित्त का सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि द्वेषात्मक मनुष्य के लिए अशुभ का सेवन वैसे ही घातक होता है, जैसे कि पित्तात्मक के लिए तीक्ष्ण (तीखे पदार्थ का) उपचार। ॥६१॥

व्यापाददोषक्षुभिते तु चित्ते सेव्या स्वपक्षोपनयेन मैत्री।
द्वेषात्मनो हि प्रशमाय मैत्री पित्तात्मनः शीत इवोपचारः ॥६२॥

व्यापादरूपी दोष से चित्त के क्षुब्ध होने पर (अपने मन में सबको) अपनाकर मैत्री (-भावना) का सेवन करना चाहिए; क्योंकि द्वेषात्मक मनुष्य के लिए मैत्री-भावना वैसे ही शान्ति-दायक होती है, जैसे कि पित्तात्मक के लिए ठण्ढा उपचार। ॥६२॥

मोहानुबद्धे मनसः प्रचारे मैत्राशुभा चैव भवत्ययोगः।
ताभ्यां हि संमोहमुपैति भूयो वाय्वात्मको रूक्षमिवोपनीय ॥६३॥

६०-६१:— अशुभ की भावना=सब भोग बुरे हैं, ऐसी भावना।

चित्त का व्यापार मोह (मूढ़ता) से युक्त होने पर मैत्री और अशुभ का चिन्तन उपयुक्त नहीं होता है; क्योंकि इन दोनों (के चिन्तन) से और भी मोह होता है, जैसे वायु से पीड़ित रहनेवाला मनुष्य रूखे पदार्थ का सेवन कर और भी मूर्छित होता है। ॥१३॥

मोहात्मिकायां मनसः प्रवृत्तौ सेव्यस्त्विदंप्रत्ययताविहारः।
मूढे मनस्येष हि शान्तिमार्गो वाय्वात्मके स्निग्ध इवोपचारः॥६४॥

मानसिक प्रवृत्ति मोह-युक्त होने पर कार्य-कारण सिद्धान्त का चिन्तन करना चाहिए; क्योंकि मोह-युक्त चित्त के लिए यही शान्ति का मार्ग है, जैसे वायु से पीड़ित रहनेवाले के लिए स्निग्ध उपचार शान्ति-प्रद होता है। ॥६४॥

उल्कामुखस्थं हि यथा सुवर्णं सुवर्णकारो धमतीह काले।
काले परिप्रोक्षयते जलेन क्रमेण काले समुपेक्षते च ॥६५॥

जैसे सुनार इस संसार में अंगीठी पर सोने को समय पर धौंकता है, समय पर जल से सिक्त करता है और क्रम से समय पर उसको (चुपचाप) छोड़ देता है; ॥६५॥

दहेत्सुवर्णं हि धमन्नकाले जले क्षिपन्संशमयेदकाले।
न चापि सम्यक् परिपाकमेनं नयेदकाले समुपेक्षमाणः॥६६॥

क्योंकि सोने को असमय में धौंककर जला डालेगा, असमय में जल में डालकर ठंढा कर देगा और असमय में (अलग) रखकर सम्यक् रूप से परिपक्व नहीं कर सकेगा। ॥६६॥

संप्रग्रहस्य प्रशमस्य चैव तथैव काले समुपेक्षणस्य।
सम्यङ् निमित्त मनसा त्ववेक्ष्यं नाशो हि यत्नोऽप्यनुपायपूर्वः॥६७॥

उसी प्रकार (चित्त के) उद्योग शान्ति और समय पर उपेक्षा के लिए सम्यक् निमित्त (भावना की वस्तु) की मन से पहचान करनी चाहिए; क्योंकि अनुचित उपाय से किया गया प्रयत्न नष्ट हो जाता है।" ॥६७॥

इत्येवमन्यायनिवर्तनं च न्यायं च तस्मै सुगतो बभाषे।
भूयश्च तच्चरितं विदित्वा वितर्कहानाय विधीनुवाच॥६८॥

इस प्रकार सुगत ने अनुचित का परित्याग और उचित उपाय (का सेवन) बतलाया; और फिर नन्द ने जो कुछ आचरण किया था उसको जानकर उन्होंने वितर्कों के विनाश का तरीका बतलाया। ॥६८॥

यथा भिषक् पित्तकफानिलानां य एव कोपं समुपैति दोषः
शमाय तस्यैव विधिं विधत्ते व्यधत्त दोषेषु तथैव बुद्धः॥६९॥

वैद्य जैसे कफ पित्त वायु में से जिस किसी दोष का प्रकोप होता है उसकी शान्ति के लिए उपचार बतलाता है वैसे ही बुद्ध ने (राग-द्वेष आदि) दोषों के सम्बन्ध में उपाय बतलाया। ॥६९॥

एकेन कल्पेन सचेन्न हन्यात्स्वभ्यस्तभावादशुभान्वितर्कान्।
ततो द्वितीयं क्रममारभेत न त्वेव हेयो गुणवान्प्रयोगः॥७०॥

यदि किसी एक उपाय से अशुभ वितर्कों का विनाश न हो सके तो किसी दूसरे उपाय को शुरू करे; किंतु उत्तम उद्योग को कभी न छोड़े। ॥७०॥

अनादिकालोपचितात्मकत्वाद्बलीयसः क्लेशगणस्य चैव।
सम्यक्प्रयोगस्य च दुष्करत्वाच्छेत्तुं न शक्याः सहसा हि दोषाः॥७१॥

अनादि काल से संचित होने के कारण क्लेशों का समूह बल-वान् हो जाता है और सम्यक् रूप से उद्योग करना कठिन है, इस-

लिए सहसा ही दोषों को उन्मूलित (नष्ट) नहीं किया जा सकता। ॥७१॥

अण्व्या यथाण्या विपुलाणिरन्या निर्वाह्यते तद्विदुषा नरेण।
तद्वत्तदेवाकुशलं निमित्तं क्षिपेन्निमित्तान्तरसेवनेन ॥७२॥

जैसे कुशल मनुष्य (कारीगर)छोटी पच्चल (कील) देकर बड़ी पच्चल को बाहर निकाल लेता है, उसी प्रकार दूसरे निमित्त का सेवन करके अकुशल निमित्तको निकाल फेंकना चाहिए। ॥७२॥

तथाप्यथाध्यात्मनवग्रहत्वान्नैवोपशाम्येदशुभो वितर्कः।
हेयः स तद्दोषपरीक्षणेन सश्वापदो मार्ग इवाध्वगेन ॥७३॥

इतना होने पर भी यदि हाल में अध्यात्म (-मार्ग) ग्रहण करने के कारण अशुभ वितर्क (विचार) शान्त न हो तो उसकी बुराई की जाँच करके उसका परित्याग करना चाहिए, जैसे कि यात्री हिंसक पशुओं से सेवित मार्ग को छोड़ देता है। ॥७३॥

यथा क्षुधार्तोऽपि विषेण पृक्तं जिजीविषुर्नेच्छति भोक्तुमन्नं।
तथैव दोषावहमित्यवेत्य जहाति विद्वानशुभं निमित्तं ॥७४॥

जैसे भूखा होने पर भी मनुष्य विष-मिला हुआ अन्न नहीं खाना चाहता है, वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्य अशुभ निमित्त को दोषावह (दोष उत्पन्न करने वाला) समझकर छोड़ देता है। ॥७४॥

न दोषतः पश्यति यो हि दोषं कस्तं ततो वारयितुं समर्थः।
गुणं गुणे पश्यति यश्च यत्र स वार्यमाणोऽपि ततः प्रयाति ॥७५॥

जो आदमी दोष को दोष नहीं समझता है उसको उससे कौन हटा सकता है और जो आदमी जिस गुण को गुण समझता है वह

रोका जाने पर भी वहीं जाता है। ॥७५॥

व्यपत्रपन्ते हि कुलप्रसूता मनःप्रचारैरशुभैः प्रवृत्तैः।
कण्ठे मनस्वीव युवा वपुष्मानचाक्षुषैरप्रयतैर्विषक्तैः ॥७६॥

उत्तम कुल में उत्पन्न मनुष्य अपनी अशुभ मानसिक प्रवृत्तियों से लज्जित होते हैं, जैसे कि कोई मनस्वी और रूपवान् युवा अपने गले में लगे (लटकते) हुए अदर्शनीय एवं अपवित्र वस्तुओं से लज्जा को प्राप्त होता है। ॥७६॥

निर्धूयमानास्त्वथ लेशतोऽपि तिष्ठेयुरेवाकुशला वितर्काः।
कार्यान्तरैरध्ययनक्रियाद्यैः सेव्यो विधिर्विस्मरणाय तेषां ॥७७॥

निवारण किये जाने पर (हटाये जाने पर) यदि लेशमात्र भी अकुशल वितर्क (बुरे विचार) रह जायँ तो अध्ययन आदि दूसरे कार्यों के द्वारा उन्हें भुला देने का उपाय करना चाहिए। ॥७७॥

स्वप्तव्यमप्येव विचक्षणेन कायक्लमो वापि निषेवितव्यः।
न त्वेव संचिन्त्यमसन्निमित्तं यत्रावसक्तस्य भवेदनर्थः ॥७८॥

समझदार आदमी को सो रहना चाहिए या किसी शारीरिक श्रम में लग जाना चाहिए; किन्तु कभी भी उस अकुशल निमित्त का चिन्तन नहीं करना चाहिए, जिसमें लीन होने पर अनर्थ हो सकता है। ॥७८॥

यथा हि भीतो निशि तस्करेभ्यो द्वारं प्रियेभ्योऽपि न दातुमिच्छेत्
प्राज्ञस्तथा संहरति प्रयोगं समं शुभस्याप्यशुभस्य दोषैः ॥७९॥

जैसे चोरों से डरा हुआ मनुष्य रात्रि-काल में अपने प्रिय जनों के लिए भी द्वार नहीं खोलता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य दोषों के डर से शुभ और अशुभ (विचारों) का प्रयोग (अभ्यास, प्रवेश) एक

साथ रोक देता है। ॥७९॥

एवंप्रकारैरपि यद्युपायैर्निवार्यमाणा न पराङ्मुखाः स्युः।
ततो यथास्थूलनिबर्हणेन सुवर्णदोषा इव ते प्रहेयाः ॥८०॥

यदि ऐसे ऐसे उपायों से भी निवारण किये जाने पर वे विमुख न हों तो सोने की गन्दगियों (सुवर्ण-कणों में मिले हुए रज-कणों) के समान उन (दोषों, बुरे विचारों) की स्थूलता के अनुसार क्रम से उन्हें छोड़ देना चाहिए। ॥८०॥

द्रुतप्रयाणप्रभृतींश्च तीक्ष्णात्कामप्रयोगात्परिखिद्यमानः।
यथा नरः संश्रयते तथैव प्राज्ञेन दोषेष्वपि वर्तितव्यं ॥८१॥

जैसे तीव्र काम से पीड़ित मनुष्य तेजी से टहलना आदि उपायों का आश्रय लेता है वैसे ही दोषों के विषय में भी समझदार आदमी को बरतना चाहिए। ॥८१॥

ते चेदलब्धप्रतिपक्षभावा नैवोपशाम्येयुरसद्वितर्काः।
मुहूर्तमप्यप्रतिबध्यमाना गृहे भुजंगा इव नाधिवास्याः ॥८२॥

यदि उनके विरोधी भाव उत्पन्न न हो सकने के कारण वे अकुशल वितर्क (बुरे विचार) शान्त न हों तो घर में घुसे हुए सर्पों के समान उन्हें क्षण भर के लिए भी निर्विरोध नहीं ठहरने देना चाहिए। ॥८२॥

दन्तेऽपि दन्तं प्रणिधाय कामं ताल्वग्रमुत्पीड्य च जिह्वयापि।
चित्तेन चित्तं परिगृह्य चापि कार्यः प्रयत्नो न तु तेऽनुवृत्ताः ॥८३॥

दाँत पर दाँत रखकर, जिह्वा से तालु के अग्रभाग को उत्पीड़ित कर, और चित्त से चित्त का निग्रह करके प्रयत्न करना चाहिए;

किंतु उनके अनुकूल नहीं होना चाहिए (उनके आगे झुकना नहीं चाहिए) । ॥८३॥

किमत्र चित्रं यदि वीतमोहो वनं गतः स्वस्थमना न मुह्येत् ।
आक्षिप्यमाणो हृदि तन्निमित्तैर्न क्षोभ्यते यः स कृती स धीरः ॥८४॥

इसमें क्या आश्चर्य यदि मोह-रहित मनुष्य वन में जाकर स्वस्थ-चित्त रहे और मोह में न पड़े ? (दोषों के कारणरूप अकुशल) निमित्तों द्वारा हृदय में पीड़ित होता हुआ जो क्षुब्ध नहीं होता है, वही धन्य है वही धीर है । ॥८४॥

तदार्यसत्याधिगमाय पूर्वं विशोधयानेन नयेन मार्गं ।
यात्रागतः शत्रुविनिग्रहार्थं राजेव लक्ष्मीमजितां जिगीषन् ॥८५॥

इसलिए आर्य सत्य की प्राप्ति के लिए इस विधि से पहले मार्ग को शुद्ध करो; जैसे शत्रु के निग्रहार्थ यात्रा पर जानेवाला राजा अविजित लक्ष्मी को जीतने की इच्छा से पहले रास्ता साफ करवाता है । ॥८५॥

एतान्यरण्यान्यभितः शिवानि योगानुकूलान्यजनेरितानि ।
कायस्य कृत्वा प्रविवेकमात्रं क्लेशप्रहाणाय भजस्व मार्गं ॥८६॥

ये मङ्गलमय योगानुकूल विजन वन चारों ओर फैले हुए हैं । शरीर को एकान्त में करके मार्ग (उचित उपाय) का सेवन करो । ॥८६॥

८३—पा० 'ऽनुवर्त्याः' ?

८४—"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः"—कालिदास ।

८६—पा० 'प्रविवेकमादौ' ? देखिये सौ० चौदह ४६ ।

कौण्डिन्यनन्दकुमिलानिरुद्धास्तिष्योपसेनौ विमलोऽथ राधः ।
बाष्पोत्तरौ धौतकिमोहराजौ कात्यायनद्रव्यपिलिन्दवत्साः ॥८७॥

कौण्डिन्य, नन्द, कुमिल, अनिरुद्ध, तिष्य, उपसेन, विमल, राध, बाष्प, उत्तर, धौतकि, मोहराज, कात्यायन, द्रव्य, पिलिन्दवत्स, ॥८७॥

भद्दालिभद्रायणसर्पदाससुभूतिगोदत्तसुजातवत्साः ।
संग्रामजिद्भद्रजिदश्वजिच्च श्रोणश्च शोनश्च स कोटिकर्णः ॥८८॥

भद्दालि, भद्रायण, सर्पदास, सुभूति, गोदत्त, सुजात, वत्स, संग्रामजित्, भद्रजित्, अश्वजित्, श्रोण, शोण, कोटिकर्ण, ॥८८॥

क्षेमाजितो नन्दकनन्दमाता वुपालिवागीशयशोयशोदाः ।
महाह्वयो वल्कलिराष्ट्रपालौ सुदर्शनस्वागतमेघिकाश्च ॥८९॥

क्षेमा, अजित, नन्दक, नन्दमाता, (महाप्रजापती गौतमी), उपालि, वागीश, यश, यशोद, महाह्वय (महानाम), वल्कलि, राष्ट्रपाल, सुदर्शन, स्वागत, मेघिक, ॥८९॥

८९—डा० टामस 'क्षेमाजितौ नन्दकनन्दमातावुपालि'० पाठ सुझाते हैं। डा० जौन्स्टन 'नन्दकनन्दमाते' पाठ अच्छा समझते हैं और नन्दक-माता (= उत्तरा) तथा नन्द-माता अर्थ करते हैं। यदि दूसरे पाद के शुरू में पाठ-परिवर्तन नहीं किया जाय तो 'वुपालि' को 'उपालि' का विकृत रूप समझना होगा। 'क्षेमाजितः' यदि किसी व्यक्ति का नाम समझा जाय तो इसमें भी पाठ-परिवर्तन करने की जरूरत नहीं होगी। डा० जौन्स्टन के अनुसार क्षेमा उत्तरा और महाप्रजापती गौतमी तीन विख्यात भिक्षुणियाँ थीं और अश्वघोष ने इन तीनों का ही यहाँ उल्लेख किया है।

स कफ्फिनः काश्यप औरुविल्वो महामहाकाश्यपतिष्यनन्दाः ।
पूर्णश्च पूर्णश्च स पूर्णकश्च शोनापरान्तश्च स पूर्ण एव ॥६०॥

कफ्फिन, औरुविल्व काश्यप, महामहाकाश्यप, तिष्य, नन्द, पूर्ण, पूर्ण, पूर्णक, पूर्ण, शोणापरान्त । ॥९०॥

शारद्वतीपुत्रसुबाहुचुन्दाः कोन्देयकाप्यभृगुकुण्ठधानाः ।
सशैवलौ रेवतकौष्ठिलौ च मौद्गल्यगोत्रश्च गवांपतिश्च ॥६१॥

शारद्वतीपुत्र, सुबाहु, चुन्द, कोन्देय, काप्य, भृगु, कुण्ठधान, शैवल, रेवत, कौष्ठिल, मौद्गल्यायन और गवांपति ने ॥९१॥

यं विक्रमं योगविधावकुर्वंस्तमेव शीघ्रं विधिवत्कुरुष्व ।
ततः पदं प्राप्स्यसि तैरवाप्तं सुखावृतैस्त्वं नियतं यशश्च ॥६२॥

योगाभ्यास में जो पराक्रम किया था वही तुम भी शीघ्र विधिपूर्वक करो और तब निश्चय ही वह पद और यश पाओगे जो कि इन (उपर्युक्त) अन्य व्यक्तियों ने पाया था । ॥६२॥

द्रव्यं यथा स्यात्कटुकं रसेन तच्चोपयुक्तं मधुरं विपाके ।
तथैव वीर्यं कटुकं श्रमेण तस्यार्थसिद्ध्यै मधुरो विपाकः ॥६३॥

जिस प्रकार द्रव्य-विशेष का रस कड़वा होता है और उसका उपयोग करने पर मीठा फल मिलता है, उसी प्रकार थकावट के कारण उद्योग कटु (कष्टप्रद और अप्रिय) होता है, किंतु लक्ष्य की सिद्धि हो जाने पर मीठा फल मिलता है । ॥९३॥

वीर्यं परं कार्यकृतौ हि मूलं वीर्यादृते काचन नास्ति सिद्धिः ।
उदेति वीर्यादिह सर्वसंपन्निर्वीर्यता चेत्सकलश्च पाप्मा ॥६४॥

६२—'सुखावृतैः' पाठ अनिश्चित है ।

कार्य की सफलता का मूल कारण है उत्तम उद्योग, उद्योग के बिना कोई भी सिद्धि नहीं होती है, उद्योग से ही सब समृद्धियों का उदय होता है और जहां उद्योग नहीं है वहां पाप ही पाप है। ॥९४॥

अलब्धस्यालाभो नियतमुपलब्धस्य विगम-
स्तथैवात्मावज्ञा कृपणमधिकेभ्यः परिभवः।
तमो निस्तेजस्त्वं श्रुतिनियमतुष्टिव्युपरमो
नृणां निर्वीर्याणां भवति विनिपातश्च भवति ॥९५॥

अनुद्योगी मनुष्यों को निश्चय ही अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति नहीं होती है और उनकी प्राप्त वस्तुओं का भी नाश हो जाता है, उनका आत्म-सम्मान चला जाता है, वे दीन हीन हो जाते हैं, बलवानों से अपमानित होते हैं, मानसिक अन्धकार में रहते हैं, उनका तेज क्षीण हो जाता है, विद्या संयम और संतोष नष्ट हो जाता है, (सब प्रकार से) उनका पतन होता है ॥९५॥

नयं श्रुत्वा शक्तो यदयमभिवृद्धिं न लभते
परं धर्मं ज्ञात्वा यदुपरि निवासं न लभते।
गृहं त्यक्त्वा मुक्तौ यदयमुपशान्तिं न लभते।
निमित्तं कौसीद्यं भवति पुरुषस्यात्र न रिपुः ॥९६॥

शक्तिशाली मनुष्य उपाय सुनकर अपनी उन्नति जो नहीं करता है, उत्तम धर्म सुनकर ऊपर का निवास (उत्तम पद) जो नहीं प्राप्त करता है और मुक्ति के लिए घर छोड़कर शान्ति लाभ जो नहीं करता है, इसका कारण उसका अपना ही आलस्य है, न कि (कोई बाहरी) शत्रु ॥९६॥

९६—पा० 'पुरुषस्यान्तररिपुः'।

अनिक्षिप्तोत्साहो यदि खनति गां वारि लभते ।
प्रसक्तं व्यामथ्नन् ज्वलनमरणिभ्यां जनयति ।
प्रयुक्ता योगे तु ध्रुवमुपलभन्ते श्रमफलं
द्रुतं नित्यं यान्त्यो गिरिमपि हि भिन्दन्ति सरितः ॥९७॥

उत्साह खोये विना पृथ्वी को खोदनेवाला मनुष्य जल प्राप्त करता है, लकड़ियों को लगातार रगड़नेवाला आदमी अग्नि उत्पन्न करता है, योगाभ्यासी पुरुष अवश्य अपने परिश्रम का फल प्राप्त करते हैं और निरन्तर द्रुतगति से बहनेवाली नदियाँ पर्वत को भी फोड़ती हैं। ॥९७॥

कृष्ट्वा गां परिपाल्य च श्रमशतैरश्नोति सस्यश्रियं
यत्नेन प्रविगाह्य सागरजलं रत्नश्रिया क्रीडति ।
शत्रूणामवधूय वीर्यमिषुभिर्भुङ्क्ते नरेन्द्रश्रियं
तद्वीर्यं कुरु शान्तये विनियतं वीर्ये हि सर्वर्द्धयः ॥९८॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये आर्यसत्यव्याख्यानो नाम षोडशः सर्गः ।

भूमि को जोतकर और अत्यन्त परिश्रमपूर्वक (खेत की) रखवाली कर मनुष्य उत्तम सस्य प्राप्त करता है, प्रयत्नपूर्वक समुद्र के जल में प्रविष्ट होकर वह उत्तम रत्न-राशि से क्रीड़ा करता है, तीरों से शत्रुओं के उद्योग को निष्फल कर वह राज-लक्ष्मी का उपभोग करता है; अतः शान्ति प्राप्त करने के लिए उद्योग करो; क्योंकि उद्योग में ही सब समृद्धियों का निवास है। ॥९८॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "आर्य-सत्य-व्याख्यान"
नामक षोडश सर्ग समाप्त ।

सप्तदश सर्ग

अमृत की प्राप्ति

अथैवमादेशिततत्त्वमार्गो नन्दस्तदा प्राप्तविमोक्षमार्गः ।
सर्वेण भावेन गुरौ प्रणम्य क्लेशप्रहाणाय वनं जगाम ॥१॥

जब नन्द को इस प्रकार तत्त्व-मार्ग का उपदेश किया गया और जब उसने मोक्ष का मार्ग प्राप्त कर लिया तब सर्वभाव से गुरु को प्रणाम कर वह जंगल चला गया । ॥१॥

तत्रावकाशं मृदुनीलशष्पं ददर्श शान्तं तरुषण्डवन्तं ।
निःशब्दया निम्नगयोपगूढं वैडूर्यनीलोदकया वहन्त्या ॥२॥

वहाँ कोमल और श्यामल दूब से आच्छादित तथा वृक्षों से युक्त एक शान्त स्थान देखा, जो वैदूर्य के समान नीले जल वाली, चुपचाप बहती नदी से आलिङ्गित हो रहा था । ॥२॥

स पादयोस्तत्र विधाय शौचं शुचौ शिवे श्रीमति वृक्षमूले ।
मोक्षाय बद्ध्वा व्यवसायकक्षां पर्यङ्कमङ्कावहितं बबन्ध ॥३॥

वहाँ वह अपने पाँवों को धोकर सुन्दर पवित्र और मङ्गलमय वृक्ष-मूल में मोक्ष-प्राप्ति का निश्चय कर और पर्यंक आसन बाँधकर बैठ गया । ॥३॥

ऋजुं समग्रं प्रणिधाय कायं काये स्मृतिं चाभिमुखीं विधाय ।
सर्वेन्द्रियाण्यात्मनि संनिधाय स तत्र योगं प्रयतः प्रपेदे ॥४॥

अपने समग्र (ऊपरी) शरीर को सीधा कर, स्मृति को शरीर में

अभिमुखी (संलग्न, केन्द्रित) कर और सब इन्द्रियों को अपने में निरुद्ध कर, वह पवित्रात्मा वहाँ योगारूढ़ हुआ। ॥४॥

ततः स तत्त्वं निखिलं चिकीर्षुर्मोक्षानुकूलांश्च विधींश्चिकीर्षन्।
ज्ञानेन लोक्येन शमेन चैव चचार चेतःपरिकर्मभूमौ ॥५॥

तब वह सम्पूर्ण तत्त्व को प्राप्त करने की इच्छा से और मोक्ष के अनुकूल उपायों को करने की इच्छा से ज्ञान और शान्ति के द्वारा चित्त की कर्म-भूमि में विचरण करने लगा। ॥५॥

संधाय धैर्यं प्रणिधाय वीर्यं व्यपोह्य सक्तिं परिगृह्य शक्तिं।
प्रशान्तचेता नियमस्थचेताः स्वस्थस्ततोऽभूद्विषयेष्वनास्थः ॥६॥

धैर्य की रक्षा कर, उद्योग का सहारा लेकर, आसक्ति का विनाश कर और शक्ति का संग्रह कर, वह शान्तचित्त संयतचित्त और स्वस्थ (विकार-रहित) होकर विषयों से विरक्त हो गया। ॥६॥

आतप्तबुद्धेः प्रहितात्मनोऽपि स्वभ्यस्तभावादथ कामसंज्ञा।
पर्याकुलं तस्य मनश्चकार प्रावृट्सु विद्युज्जलमागतेव ॥७॥

यद्यपि उसकी बुद्धि प्रखर थी और उसका आत्म-निश्चय दृढ़ था, तो भी अतिशय अभ्यास के कारण काम-भावना (काम-वासना) ने उसके मन को व्याकुल कर दिया, जैसे वर्षा ऋतु में बिजली आकर पानी को क्षुब्ध कर देती है। ॥७॥

स पर्यवस्थानमवेत्य सद्यश्चिक्षेप तां धर्मविघातकर्त्रीं।
प्रियामपि क्रोधपरीतचेता नारीमिवोद्वृत्तगुणां मनस्वी ॥८॥

५—' लोक्येन ' पाठ अनिश्चित है। इसके स्थान में 'शीलेन' हो सकता है।

इस विपरीत मानसिक अवस्था को समझकर उसने धर्म में बाधा डालनेवाली उस काम-भावना को दूर हटाया, जैसे मनस्वी व्यक्ति क्रुद्ध होकर सदाचार से च्युत हुई प्यारी स्त्री को भी त्याग देता है । ॥८॥

आरब्धवीर्यस्य मनःशमाय भूयस्तु तस्याकुशलो वितर्कः ।
व्याधिप्रणाशाय निविष्टबुद्धेरुपद्रवो घोर इवाजगाम ॥६॥

मानसिक शान्ति के लिए उद्योग आरम्भ करने पर उसके मन में पुनः अकुशल वितर्क (बुरे विचार) का उदय हुआ, जैसे रोग-विनाश के लिए निश्चय किये हुए के ऊपर घोर संकट आवे । ॥९॥

स तद्विघाताय निमित्तमन्यद्योगानुकूलं कुशलं प्रपेदे ।
आर्तायनं क्षीणबलो बलस्थं निरस्यमानो बलिनारिणेव ॥१०॥

उस (वितर्क) के विनाश के लिए उसने योग के अनुकूल दूसरे कुशल निमित्त का सहारा लिया, जैसे बलवान् शत्रु से पराजित होता हुआ मनुष्य अपनी शक्ति के क्षीण होने पर पीड़ितों को आश्रय देनेवाले किसी शक्तिशाली मनुष्य की शरण में जाता है । ॥१०॥

पुरं विधायानुविधाय दण्डं मित्राणि संगृह्य रिपून्विगृह्य ।
राजा यथाप्नोति हि गामपूर्वां नीतिर्मुमुक्षोरपि सैव योगे ॥११॥

राजा जैसे नगर का निर्माण कर, दण्ड का विधान कर, मित्रों का संग्रह कर और शत्रुओं का निग्रह कर अपूर्व भूमि को प्राप्त करता है उसी प्रकार मुक्ति चाहनेवाला भी योग-विधि में उसी नीति का अवलम्बन करता है । ॥११॥

विमोक्षकामस्य हि योगिनोऽपि मनः पुरं ज्ञानविधिश्च दण्डः ।
गुणाश्च मित्राण्यरयश्च दोषा भूमिर्विमुक्तिर्यतते यदर्थं ॥१२॥

मोक्ष चाहनेवाले योगी का मन नगर है, ज्ञान-विधि दण्ड की व्यवस्था है, सद्गुण मित्र हैं, दोष शत्रु हैं और मुक्ति वह भूमि है जिसके लिए कि वह यत्न करता है। ॥१२॥

स दुःखजालान्महतो मुमुक्षुर्विमोक्षमार्गाधिगमे विविक्षुः।
पन्थानमार्यं परमं दिदृक्षुः शमं ययौ किंचिदुपात्तचक्षुः ॥१३॥

महा-दुःख-जाल से मुक्त होने की इच्छा से, मोक्ष-मार्ग में प्रविष्ट होने की इच्छा से और उत्तम आर्य मार्ग का दर्शन करने की इच्छा से वह ज्ञान-लाभ करके शान्ति को प्राप्त हुआ। ॥१३॥

यः स्यान्निकेतस्तमसोऽनिकेतः श्रुत्वापि तत्त्वं स भवेत्प्रमत्तः।
यस्मात्तु मोक्षाय स पात्रभूतस्तस्मान्मनः स्वात्मनि संजहार ॥१४॥

जो गृह-विहीन भिक्षु अज्ञान का घर होगा वह तत्त्व को सुनकर भी असावधान ही रहेगा। किन्तु वह तो मोक्ष का पात्र हो गया था, इसलिए उसने अपने मन का अपने में ही संहार (विनाश, निग्रह) कर लिया। ॥१४॥

संभारतः प्रत्ययतः स्वभावादास्वादतो दोषविशेषतश्च।
अथात्मवान्निःसरणात्मतश्च धर्मेषु चक्रे विधिवत्परीक्षां ॥१५॥

तब मुक्ति-मार्ग में लगे हुए उस संयतात्मा ने संभार प्रत्यय (कारण) स्वभाव आस्वाद और दोष-विशेष की दृष्टि से धर्मों (पदार्थों) की विधिवत् परीक्षा की। ॥१५॥

स रूपिणं कृत्स्नमरूपिणं च सारं दिदृक्षुर्विचिकाय कायं।
अथाशुचिं दुःखमनित्यमस्वं निरात्मकं चैव चिकाय कायं ॥१६॥

१५—पा० 'निःसरणात्मकश्च'।

उसने रूपवान् और अरूपवान् सम्पूर्ण सार देखने की इच्छा से शरीर का विश्लेषण किया और इसको अपवित्र दुःखमय अनित्य शून्य और अनात्म समझा। ॥१६॥

अनित्यतस्तत्र हि शून्यतश्च निरात्मतो दुःखत एव चापि।
मार्गप्रवेकेण स लौकिकेन क्लेशद्रुमं संचलयांचकार ॥१७॥

शरीर को अनित्य शून्य अनात्म और दुःखमय देखकर उसने लौकिक उत्तम मार्ग द्वारा क्लेशों के वृक्ष को हिला दिया। ॥१७॥

यस्माद्भूत्वा भवतीह सर्वं भूत्वा च भूयो न भवत्यवश्यं।
सहेतुकं च क्षयिहेतुमच्च तस्मादनित्यं जगदित्यविन्दत् ॥१८॥

क्योंकि इस संसार में अवश्य ही जो पहले नहीं था वह होता है और जो हुआ है वह फिर अभाव को प्राप्त होता है और सब कुछ हेतु-युक्त है और यह हेतु (कारण) विनाशवान् है, इसलिए उसने जगत् को अनित्य समझा। ॥१८॥

यतः प्रसूतस्य च कर्मयोगः प्रसज्यते बन्धविघातहेतुः।
दुःखप्रतीकारविधौ सुखाख्ये ततो भवं दुःखमिति व्यपश्यत् ॥१९॥

क्योंकि जिसका जन्म होता है वह वध-बन्धन के हेतुरूप कर्मों के सम्पर्क में निरन्तर रहता है और क्योंकि दुःख-प्रतीकार के उपाय को ही सुख समझ लिया जाता है, इसलिए उसने संसार को दुःखमय देखा। ॥१९॥

यतश्च संस्कारगतं विविक्तं न कारकः कश्चन वेदको वा।
सामग्र्यतः संभवति प्रवृत्तिः शून्यं ततो लोकमिमं ददर्श ॥२०॥

२०—'वेदक' का दूसरा अर्थ होगा सुख-दुःख अनुभव करनेवाला।

क्योंकि व्यक्ति संस्कारों का बना हुआ है, कर्ता या ज्ञाता कोई नहीं है और क्योंकि (हेतु-प्रत्ययों की) सामग्री से प्रवृत्ति होती है इसलिए उसने इस संसार को शून्य समझा । ॥२०॥

यस्मान्निरीहं जगदस्वतन्त्रं नैश्वर्यमेकः कुरुते क्रियासु ।
तत्तत्प्रतीत्य प्रभवन्ति भावा निरात्मकं तेन विवेद लोकं ॥२१॥

क्योंकि संसार निरीह और परतन्त्र है, कार्यों का कोई ईश्वर नहीं है, और क्योंकि कारण के आश्रय से ही सब की उत्पत्ति होती है, इसलिए उसने संसार को अनात्म समझा । ॥२१॥

ततः स वातं व्यजनादिवोष्णे काष्ठाश्रितं निर्मथनादिवाग्निं ।
अन्तःक्षितिस्थं खननादिवाम्भो लोकोत्तरं वर्त्म दुरापमाप ॥२२॥

जैसे कोई गर्मी में व्यजन डुलाकर हवा निकाले, या काठ में रहने वाली अग्नि को रगड़कर निकाले या पृथ्वी के भीतर से पानी खोद निकाले, वैसे ही उसने (उद्योगपूर्वक) अलौकिक दुर्लभ मार्ग प्राप्त किया । ॥२२॥

सज्ज्ञानचापः स्मृतिवर्म बद्ध्वा विशुद्धशीलव्रतवाहनस्थः ।
क्लेशारिभिश्चित्तरणाजिरस्थैः सार्धं युयुत्सुर्विजयाय तस्थौ ॥२३॥

सच्चा ज्ञानरूपी धनुष लेकर, स्मृतिरूपी कवच पहनकर और विशुद्ध शीलव्रतरूपी वाहन पर आरूढ़ होकर वह चित्त के रणाङ्गन में स्थित क्लेशरूपी शत्रुओं के साथ युद्ध करने की इच्छा से विजय प्राप्त करने के लिए खड़ा हुआ । ॥२३॥

ततः स बोध्यङ्गशितात्तशस्त्रः सम्यक्प्रधानोत्तमवाहनस्थः ।
मार्गाङ्गमातङ्गवता बलेन शनैः शनैः क्लेशचमूं जगाहे ॥२४॥

तब (सात) बोधि-अङ्गरूपी तेज शस्त्र लेकर, सम्यक् उद्योगरूपी वाहन पर सवार होकर, (आर्य अष्टाङ्गिक) मार्ग के (आठ) अङ्गरूपी हाथियों की सेना के साथ उसने धीरे धीरे क्लेशों की सेना में प्रवेश किया। ॥२४॥

स स्मृत्युपस्थानमयैः पृषत्कैः शत्रून्विपर्यासमयान् क्षणेन ।
दुःखस्य हेतूंश्चतुरश्चतुर्भिः स्वैः स्वैः प्रचारायतनैर्ददार ॥२५॥

उसने चार स्मृति-उपस्थानरूपी तीरों से, जो अपने अपने क्षेत्र में चल रहे थे, दुःख के कारण-स्वरूप चार मिथ्याज्ञानरूपी शत्रुओं को क्षण भर में विदीर्ण कर डाला। ॥२५॥

आर्यैर्बलैः पञ्चभिरेव पञ्च चेतःखिलान्यप्रतिमैर्बभञ्ज ।
मिथ्याङ्गनागांश्च तथाङ्गनागैर्विनिर्दुधावाष्टभिरेव सोऽष्टौ ॥२६॥

उसने अनुपम पाँच आर्य बलों के द्वारा पाँच मानसिक खिलों (कीलों, बाधाओं) को तोड़ डाला और (आर्य मार्ग के) आठ अङ्गरूपी हाथियों द्वारा आठ मिथ्या अङ्गरूपी हाथियों को दूर भगाया। ॥२६॥

२४—बोधि-अङ्ग = स्मृति, धर्म, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि, उपेक्षा।

२५—स्मृति-उपस्थान = कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना, धर्मानुपश्यना। शरीर और चित्त की वर्तमान अवस्था को जानना और उसके प्रति जागरूक रहना। विशेष के लिए देखिये सतिपट्ठान सुत्त।

२६—पञ्च बल = श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। पाँच चेतःखिल के लिए देखिये संगीति परियाय सुत्त (दीघ निकाय) तथा चेतोखिल सुत्तन्त (मज्झिम निकाय)।

आर्य मार्ग के आठ अङ्ग = सम्यक् दृष्टि, सम्यक् वाणी आदि।
मिथ्या मार्ग के आठ अङ्ग = मिथ्या दृष्टि, मिथ्या वाणी आदि।

अथात्मदृष्टिं सकलां विधूय चतुर्षु सत्येष्वकथंकथः सन् ।
विशुद्धशीलव्रतदृष्टधर्मा धर्मस्य पूर्वां फलभूमिमाप ॥२७॥

तब आत्म-दृष्टि को सर्वथा उन्मूलित कर, चार सत्यों के विषय में संशय-रहित होकर और विशुद्ध शील-व्रत के द्वारा धर्म का दर्शन कर उसने धर्म की प्रथम फल-भूमि को प्राप्त किया। ॥२७॥

स दर्शनादार्यचतुष्टयस्य क्लेशैकदेशस्य च विप्रयोगात् ।
प्रत्यात्मिकाच्चापि विशेषलाभात्प्रत्यक्षतो ज्ञानिसुखस्य चैव ॥२८॥

उसने आर्य-चतुष्टय का दर्शन किया, क्लेशों के एक अंश का परित्याग किया आध्यात्मिक लाभ प्राप्त किया और ज्ञानियों को होने वाले सुख का साक्षात्कार किया। ॥२८॥

दार्ढ्यात्प्रसादस्य धृतेः स्थिरत्वात्सत्येष्वसंमूढतया चतुर्षु ।
शीलस्य चाच्छिद्रतयोत्तमस्य निःसंशयो धर्मविधौ बभूव ॥२९॥

उसकी श्रद्धा दृढ़ हुई, धृति स्थिर हुई, चार सत्यों के बारे में उसका अज्ञान दूर हुआ, उसका उत्तम शील छिद्र-रहित हुआ; अतः वह धर्माचरण में संशय-रहित हुआ। ॥२९॥

कुदृष्टिजालेन स विप्रयुक्तो लोकं तथाभूतमवेक्षमाणः ।
ज्ञानाश्रयां प्रीतिमुपाजगाम भूयः प्रसादं च गुरावियाय ॥३०॥

कुदृष्टियों के जाल से मुक्त होकर, लोक को वास्तविक अवस्था में देखता हुआ वह ज्ञान के आश्रय से होने वाली प्रीति (सुख) को प्राप्त हुआ और गुरु के प्रति उसकी श्रद्धा बढ़ गई। ॥३०॥

२७—प्रथम फल = स्रोत आपत्ति, निर्वाण मार्ग पर आरूढ़ होना। तीन संयोजनों के क्षीण होने से प्रथम फल की प्राप्ति होती है।

यो हि प्रवृत्तिं नियतामवैति नैवान्यहेतोरिह नाप्यहेतोः ।
प्रतीत्य तत्तत्समवैति तत्तत्स नैष्ठिकं पश्यति धर्ममार्यं ॥३१॥

प्रवृत्ति का नियमन (व्यवस्था) किसी दूसरे (मिथ्या) कारण से या बिना कारण के ही नहीं होता, किंतु (उचित) कारण के आश्रय से ही सब कुछ होता है, ऐसा जो समझता है वह नैष्ठिक आर्य धर्म को देखता है। ॥३१॥

शान्तं शिवं निर्जरसं विरागं निःश्रेयसं पश्यति यश्च धर्मं ।
तस्योपदेष्टारमथार्यवर्यं स प्रेक्षते बुद्धमवाप्तचक्षुः ॥३२॥

जो शान्त मङ्गलमय जरा-रहित राग-रहित और परम कल्याण-कारी धर्म को तथा उसके उपदेश करनेवाले आर्य-श्रेष्ठ को देखता है, वह ज्ञान प्राप्त करता है और बुद्ध को देखता है। ॥३२॥

यथोपदेशेन शिवेन मुक्तो रोगादरोगो भिषजं कृतज्ञः ।
अनुस्मरन्पश्यति चित्तदृष्ट्या मैत्र्या च शास्त्रज्ञतया च तुष्टः ॥३३॥

जिस प्रकार (वैद्य के) सत्परामर्श से रोग-मुक्त हुआ स्वस्थ मनुष्य वैद्य के प्रति कृतज्ञ होकर उसको स्मरण करता हुआ अपनी चित्त-दृष्टि से देखता है और उसकी मैत्री एवं शास्त्र-ज्ञान से सतुष्ट होता है, ॥३३॥

आर्येण मार्गेण तथैव मुक्तस्तथागतं तत्त्वविदार्यतत्त्वः ।
अनुस्मरन्पश्यति कायसाक्षी मैत्र्या च सर्वज्ञतया च तुष्टः ॥३४॥

उसी प्रकार आर्य मार्ग से चलकर मुक्त हुआ तत्त्वज्ञानी आर्य-तत्त्व

३४—काय-साक्षी = 'कायेन साक्षात्करणात्'—अभिधर्म कोश छः४३ ।
'काया से ही परम सत्य का साक्षात्कार करता है'—मज्झिम निकाय, कीटागिरि सूत्र, पृष्ठ २७८ ।

वाला काय-साक्षी (काया से ही परम सत्य का साक्षात्कार करनेवाला) तथागत को स्मरण करता हुआ (अपनी चित्त-दृष्टि से) देखता है और उनकी मैत्री एवं सर्वज्ञता से संतुष्ट होता है। ॥३४॥

स नाशकैर्दृष्टिगतैर्विमुक्तः पर्यन्तमालोक्य पुनर्भवस्य।
भक्त्वा घृणां क्लेशविजृम्भितेषु मृत्योर्न तत्रास न दुर्गतिभ्यः॥३५॥

विनाशक विचारों (धारणाओं) से मुक्त होकर, पुनर्जन्म का अन्त देखकर और क्लेशों से घृणा करके वह मृत्यु या दुर्गति से भयभीत नहीं हुआ। ॥३५॥

त्वक्स्नायुमेदोरुधिरास्थिमांसकेशादिनामेध्यगणेन पूर्णं।
ततः स कायं समवेक्षमाणः सारं विचिन्त्याण्वपि नोपलेभे॥३६॥

उसने त्वचा, स्नायु, चर्बी, रुधिर, हड्डी, मांस, केश आदि अपवित्र वस्तुओं से भरे हुए शरीर को अच्छी तरह देखा और चिन्तन करने पर थोड़ा सा भी सार उसमें नहीं पाया। ॥३६॥

स कामरागप्रतिघौ स्थिरात्मा तेनैव योगेन तनू चकार।
कृत्वा महोरस्कतनुस्तनू तौ प्राप द्वितीयं फलमार्यधर्मे॥३७॥

उस स्थिरात्मा ने योग द्वारा कामराग (काम-इच्छा) और प्रतिघ (प्रतिहिंसा) को क्षीण किया और इन दोनों को क्षीण करके उस विशाल वक्षस्थल वालेने आर्य धर्म का दूसरा फल पाया। ॥३७॥

स लोभचापं परिकल्पबाणं रागं महावैरिणमल्पशेषं।
कायस्वभावाधिगतैर्बिभेद योगायुधास्त्रैरशुभापृषत्कैः॥ ३८॥

३७—द्वितीय फल = सकृदागामि-फल। उस लोक से दुःख का अन्त करने के लिए एक ही बार लौटनेवाले को सकृदागामी कहते हैं। तीन संयोजनों को क्षीण करके राग-द्वेष-मोह को क्षीण करनेवाला सकृदागामी होता है।

उसने लोभरूपी धनुषवाले सङ्कल्परूपी तीरवाले अल्पावशिष्ट राग-नामक महाशत्रु को शरीर के स्वभाव (पर चिन्तन करने) से प्राप्त हुए अशुभ-भावना रूपी तीरों तथा यौगिक अस्त्र-शस्त्रों से विदीर्ण किया । ॥३८॥

द्वेषायुधं क्रोधविकीर्णबाणं व्यापादमन्तःप्रसवं सपत्नं ।
मैत्रीपृषत्कैर्धृतितूणसंस्थैः क्षमाधनुर्ज्याविसृतैर्जघान ॥३९॥

द्वेष रूपी शस्त्रवाले, क्रोधरूपी बिखरे बाण वाले व्यापाद (द्रोह, प्रतिहिंसा) नामक भीतरी शत्रु को धृतिरूपी तरकस में रहनेवाले तथा क्षमारूपी धनुष की प्रत्यञ्चा से छूटनेवाले मैत्रीरूपी तीरों से मार डाला । ॥३९॥

मूलान्यथ त्रीण्यशुभस्य वीरस्त्रिभिर्विमोक्षायतनैश्चकर्त ।
चमूमुखस्थान्धृतकार्मुकांस्त्रीनरीनिवारिस्त्रिभिरायसाग्रैः ॥४०॥

उस वीर ने तीन अकुशल—मूलों (लोभ द्वेष मोह) को तीन विमोक्ष–आयतनों (विमोक्ष-मुखों) से काट डाला, जैसे कोई शत्रु सेना के अग्रभाग में धनुष लेकर खड़े हुए तीन शत्रुओं को तीन लोहाग्र तीरों से काट डाले । ॥४०॥

स कामधातोः समतिक्रमाय पार्ष्णिग्रहांस्तानभिभूय शत्रून् ।
योगादनागामिफलं प्रपद्य द्वारीव निर्वाणपुरस्य तस्थौ ॥४१॥

४०—विमोक्ष-मुख तीन हैं—शून्यता, अनिमित्त, अप्रणिहित (अ० को० ८ । २५ तथा बुद्धचर्या, पाराजिका ४, पृष्ठ ३२१)

४१—अनागामि–फल तीसरा फल है । यह प्राप्त होने पर उस लोक से लौटना नहीं पड़ता है ।

काम-धातु का अतिक्रमण करने के लिए पीछे से आक्रमण करने वाले उन शत्रुओं को जीतकर, योग द्वारा अनागामि-फल प्राप्त कर, वह मानो निर्वाण-नगर के (प्रवेश-) द्वार पर खड़ा हुआ । ॥४१॥

कामैर्विविक्तं मलिनैश्च धर्मैर्वितर्कवच्चापि विचारवच्च ।
विवेकजं प्रीतिसुखोपपन्नं ध्यानं ततः स प्रथमं प्रपेदे ॥ ४२ ॥

तब वह कामों (काम-वासनाओं) से रहित, अकुशल धर्मों से रहित, वितर्क-युक्त, विचार-युक्त, वितर्क से उत्पन्न तथा प्रीति व सुख से युक्त प्रथम ध्यान को प्राप्त हुआ । ॥४२॥

कामाग्निदाहेन स विप्रमुक्तो ह्लादं परं ध्यानसुखादवाप ।
सुखं विगाह्याप्स्विव घर्मखिन्नः प्राप्येव चार्थं विपुलं दरिद्रः ॥४३॥

कामाग्नि के दाह से मुक्त होकर उसने ध्यान-सुख से (होनेवाला) परम-आनन्द प्राप्त किया, जैसे कि गर्मी से पीड़ित मनुष्य जल में सुख-पूर्वक अवगाहन करके या दरिद्र मनुष्य विपुल सम्पत्ति पाकर अत्यन्त आनन्दित होता है । ॥४३॥

तत्रापि तद्धर्मगतान्वितर्कान् गुणागुणे च प्रसृतान्विचारान् ।
बुद्ध्वा मनःक्षोभकरानशान्तांस्तद्विप्रयोगाय मतिं चकार ॥४४॥

वहाँ भी उन (विविध) धर्मों के सम्बन्ध में होने वाले वितर्क और उनके सम्बन्ध में उठे हुए विचार मनको क्षुब्ध करनेवाले और अशान्ति-प्रद हैं, ऐसा समझकर उसने उनका नाश करने के लिए निश्चय किया । ॥४४॥

क्षोभं प्रकुर्वन्ति यथोर्मयो हि धीरप्रसन्नाम्बुवहस्य सिन्धोः ।
एकाग्रभूतस्य तथोर्मिभूताश्चित्ताम्भसः क्षोभकरा वितर्काः ॥४५॥

जिस प्रकार शान्त और निर्मल जलवाली नदी तरङ्गों (के उठने) से क्षुब्ध होती है, उसी प्रकार एकाग्रता को प्राप्त चित्तरूपी जल वितर्क रूपी तरंगों (के उठने) से क्षुब्ध होता है। ॥४५॥

खिन्नस्य सुप्तस्य च निर्वृतस्य बाधं यथा संजनयन्ति शब्दाः।
अध्यात्ममैकाग्र्यमुपागतस्य भवन्ति बाधाय तथा वितर्काः ॥४६॥

जिस प्रकार थककर सुखपूर्वक सोये हुए मनुष्य को शब्दों से बाधा होती है, उसी प्रकार जिसने आध्यात्मिक (भीतरी) एकाग्रता प्राप्त कर ली है उसको वितर्कों से बाधा होती है। ॥४६॥

अथावितर्कं क्रमशोऽविचारमेकाग्रभावान्मनसः प्रसन्नं।
समाधिजं प्रीतिसुखं द्वितीयं ध्यानं तदाध्यात्मशिवं स दध्यौ ॥४७॥

तब वह क्रमशः वितर्क-रहित, विचार-रहित, मानसिक एकाग्रता के कारण शान्त, समाधि से उत्पन्न, प्रीति व सुख से युक्त, तथा आध्यात्मिक कल्याणवाले द्वितीय ध्यान को प्राप्त हुआ। ॥४७॥

तद्ध्यानमागम्य च चित्तमौनं लेभे परां प्रीतिमलब्धपूर्वां।
प्रीतौ तु तत्रापि स दोषदर्शी यथा वितर्केष्वभवत्तथैव ॥४८॥

तब मानसिक मौनवाले उस ध्यान (अवस्था) में आकर उसने उत्तम और अपूर्व प्रीति पाई, किन्तु उसने उस प्रीति में भी दोष देखा जैसे कि वितर्कों में (दोष) देखा था। ॥४८॥

प्रीतिः परा वस्तुनि यत्र यस्य विपर्ययात्तस्य हि तत्र दुःखं।
प्रीतावतः प्रेक्ष्य स तत्र दोषान्प्रीतिक्षये योगमुपारुरोह ॥४९॥

क्योंकि जिसको जिस किसी वस्तु में बड़ी प्रीति होती है उसको उस (प्रिय) वस्तु के विपर्यय (विनाश, विपरीत) होने पर उसमें दुःख

होता है; इसलिए प्रीति में दोष देखकर प्रीति का विनाश करने के लिए वह योगारूढ़ हुआ। ॥४९॥

प्रीतेर्विरागात्सुखमार्यजुष्टं कायेन विन्दन्नथ संप्रजानन्।
उपेक्षकः स स्मृतिमान्व्यहार्षीद्ध्यानं तृतीयं प्रतिलभ्य धीरः ॥५०॥

प्रीति से वैराग्य होने पर, शरीर से आर्य-जन-सेवित (आर्योचित) सुख का अनुभव करता हुआ, ज्ञान (होश) उपेक्षा और स्मृति, (सावधानी, जागरूकता) से युक्त हो, तृतीय ध्यान को प्राप्त हो, वह धैर्यपूर्वक विहार करने लगा। ॥५०॥

यस्मात्परं तत्र सुखं सुखेभ्यस्ततः परं नास्ति सुखप्रवृत्तिः।
तस्माद्बभाषे शुभकृत्स्नभूमिं परापरज्ञः परमेति मैत्र्या ॥५१॥

क्योंकि उस अवस्था में होनेवाला सुख सब सुखों से उत्तम है और उसके बाद सुख का प्रवाह (सातत्य) नहीं रहता है, इसलिए उस परापरज्ञ (उत्तम और निकृष्ट अवस्था को जाननेवाले) ने मैत्री के कारण उस उत्तम अवस्था को शुभकृत्स्न (-देवों की) भूमि समझा। ॥५१॥

ध्यानेऽपि तत्राथ ददर्श दोषं मेने परं शान्तमनिञ्जमेव।
आभोगतोऽपीञ्जयति स्म तस्य चित्तं प्रवृत्तं सुखमित्यजस्रं ॥५२॥

उसने उस ध्यान में भी दोष देखा और उत्तम अवस्था को शान्त और निर्विकार समझा। परिपूर्ण होने पर भी वह अनुभूत (प्राप्त) सुख उसके चित्त में विकार (अस्थिरता) पैदा करने लगा। ॥५२॥

५१—तृतीय ध्यान त्रिभूमिक है और इसकी अन्तिम भूमि शुभकृत्स्न-भूमि है—अभिधर्म कोश ३। २।

५२—आभोगः परिपूर्णता—अमरकोष।

यत्रेङ्गितं स्पन्दितमस्ति तत्र यत्रास्ति च स्पन्दितमस्ति दुःखं ।
यस्मादतस्तत्सुखमिङ्गकत्वात्प्रशान्तिकामा यतयस्त्यजन्ति ॥५३॥

क्योंकि जहाँ विकार (अस्थिरता) है वहाँ कम्पन है और जहाँ कम्पन है वहाँ दुःख है, इसलिए शान्ति चाहनेवाले यति (साधक, तपस्वी) उस सुख को विकारवान् समझकर छोड़ देते हैं। ॥५३॥

अथ प्रहाणात्सुखदुःखयोश्च मनोविकारस्य च पूर्वमेव ।
दध्यावुपेक्षास्मृतिमद्विशुद्धं ध्यानं तथादुःखसुखं चतुर्थं ॥५४॥

तब सुख-दुःख का परित्याग कर और मनोविकार (=सौमनस्य-दौर्मनस्य) का तो पहले ही परित्याग करके वह दुःख-सुख से रहित उपेक्षा व स्मृति से युक्त विशुद्ध चतुर्थ ध्यान को प्राप्त हुआ। ॥५४॥

यस्मात्तु तस्मिन्न सुखं न दुःखं ज्ञानं च तत्रास्ति तदर्थचारि ।
तस्मादुपेक्षास्मृतिपारिशुद्धिर्निरुच्यते ध्यानविधौ चतुर्थे ॥५५॥

क्योंकि उस (ध्यान) में न सुख है न दुःख है और है उसके लक्ष्य का साधक ज्ञान; इसलिए चतुर्थ ध्यान-विधि में स्मृति और उपेक्षा के द्वारा शुद्धि होती है, ऐसा निश्चयपूर्वक कहा जाता है। ॥५५॥

ध्यानं स निश्रित्य ततश्चतुर्थमर्हत्त्वलाभाय मतिं चकार ।
संधाय मैत्रं बलवन्तमार्यं राजेव देशानजितान् जिगीषुः ॥५६॥

तब चतुर्थ ध्यान का आश्रय लेकर उसने अर्हत्त्व (=जीवन्मुक्ति) प्राप्त करने का निश्चय किया, जैसे राजा बलवान् आर्य मित्र से सन्धि करके नहीं जीते हुए देशों को जीतना चाहता है। ॥५६॥

चिच्छेद कार्त्स्न्येन ततः स पञ्च प्रज्ञासिना भावनयेरितेन ।
ऊर्ध्वंगमान्युत्तमबन्धनानि संयोजनान्युत्तमबन्धनानि ॥५७॥

तब उसने भावना द्वारा सञ्चालित प्रज्ञारूपी तलवार से कल्याण के बाधक पाँच ऊर्ध्वगामी (ऊर्ध्वभागीय) तथा कल्याण के बाधक पाँच (अवरभागीय) संयोजनों (बन्धनों) को पूरा पूरा काट डाला । ॥५७

बोध्यङ्गनागैरपि सप्तभिः स सप्तैव चित्तानुशयान्ममर्द ।
द्वीपानिवोपस्थितविप्रणाशान् कालो ग्रहैः सप्तभिरेव सप्त ॥५८॥

उसने सात बोधि—अङ्गरूपी हाथियों द्वारा सात चित्त-अनुशयों (चित्त-मलों) को रगड़ दिया, जैसे काल सात ग्रहों के द्वारा उपस्थित-विनाश (जिनका विनाश समीप आ गया हो ऐसे) सात द्वीपों को नष्ट कर देता है । ॥५८॥

अग्निद्रुमाज्याम्बुषु या हि वृत्तिः कबन्धवाय्वग्निदिवाकराणां ।
दोषेषु तां वृत्तिमियाय नन्दो निर्वापणोत्पाटनदाहशोषैः ॥५९॥

अग्नि वृक्ष घी और पानी के प्रति (क्रमशः) जल वायु अग्नि और सूर्य का जो आचरण (कार्य) होता है दोषों के प्रति नन्द ने प्रशमन उन्मूलन दहन और शोषण द्वारा वही आचरण किया । ॥५९॥

इति त्रिवेगं त्रिझषं त्रिवीचमेकाम्भसं पञ्चरयं द्विकूलं ।
द्विग्राहमष्टाङ्गवता प्लवेन दुःखार्णवं दुस्तरमुत्ततार ॥६०॥

इस प्रकार तीन वेगवाले तीन मछलियोंवाले तीन तरङ्गोंवाले एक जलवाले पाँच वेगवाले दो तीरवाले और दो ग्राहवाले दुस्तर दुःख-सागर को आठ अङ्गवाली नाव से पार किया । ॥६०॥

अर्हत्त्वमासाद्य स सत्क्रियार्हो निरुत्सुको निष्प्रणयो निराशः ।
विभीर्विशुग्वीतमदो विरागः स एव धृत्यान्य इवाबभासे ॥६१॥

अर्हत्त्व प्राप्त कर वह पूज्य उत्सुकता स्नेह आशा भय शोक मद

और राग से रहित होकर धैर्य के कारण दूसरा-जैसा दिखाई पड़ा। ॥६१॥

भ्रातुश्च शास्तुश्च तयानुशिष्ट्या नन्दस्ततः स्वेन च विक्रमेण।
प्रशान्तचेताः परिपूर्णकार्यो वाणीमिमामात्मगतां जगाद ॥६२॥

भाई और उपदेशक के उस उपदेश से तथा अपने पराक्रम से जब उसका चित्त शान्त और कार्य पूरा हो गया तब अपने ही मन में उसने यों कहाः— ॥६२॥

नमोऽस्तु तस्मै सुगताय येन हितैषिणा मे करुणात्मकेन।
बहूनि दुःखान्यपवर्तितानि सुखानि भूयांस्युपसंहृतानि ॥६३॥

"उन सुगत को प्रणाम करता हूँ, जिन हितैषी करुणात्मक ने मेरे अनेक दुःख दूर किये और असीम सुख दिये। ॥६३॥

अहं ह्यनार्येण शरीरजेन दुःखात्मके वर्त्मनि कृष्यमाणः।
निवर्तितस्तद्वचनाङ्कुशेन दर्पान्वितो नाग इवाङ्कुशेन ॥६४॥

अनार्य शरीरज (काम) द्वारा मैं दुःखात्मक मार्ग में घसीटा जा रहा था; किंतु उनके वचनरूपी अङ्कुश द्वारा मैं ऐसे लौटा लिया गया जैसे अङ्कुश द्वारा मत्त हाथी लौटाया जाता है। ॥६४॥

तस्याज्ञया कारुणिकस्य शास्तुर्हृदिस्थमुत्पाट्य हि रागशल्यं।
अद्यैव तावत्सुमहत्सुखं मे सर्वक्षये किंबत निर्वृतस्य ॥६५॥

उन कारुणिक शास्ता की आज्ञा से हृदय में रहनेवाले रागरूपी शल्य को निकालकर मैं आज ही ऐसा महान् सुख अनुभव कर रहा हूँ, फिर सब (पदार्थों) का क्षय होने के बाद निर्वाण होने पर क्या कहना? ॥६५॥

निर्वाप्य कामाग्निमहं हि दीप्तं धृत्यम्बुना पावकमम्बुनेव ।
ह्लादं परं सांप्रतमागतोऽस्मि शीतं ह्रदं घर्म इवावतीर्णः ॥६६॥

जैसे जल से अग्नि को शान्त करते हैं वैसे ही धैर्यरूपी जल से प्रज्वलित कामाग्नि को शान्त करके मैं सम्प्रति, गर्मी में शीतल सरोवर में उतरे हुए के समान, अत्यन्त आह्लादित हो रहा हूँ । ॥६६॥

न मे प्रियं किंचन नाप्रियं मे न मेऽनुरोधोऽस्ति कुतो विरोधः ।
तयोरभावात्सुखितोऽस्मि सद्यो हिमातपाभ्यामिव विप्रमुक्तः ॥६७॥

मुझे न कुछ प्रिय है न अप्रिय, न अनुरोध (चाह) न विरोध । इन दोनों के अभाव से मैं अब, सर्दी गर्मी (के प्रभाव) से मुक्त हुए के समान, सुखी हूँ । ॥६७॥

महाभयात्क्षेममिवोपलभ्य महावरोधादिव विप्रमोक्षं ।
महार्णवात्पारमिवाप्लवः सन्भीमान्धकारादिव च प्रकाशं ॥६८॥

महा-विपत्ति से कुशल-क्षेम प्राप्त करनेवाले के समान, महा-बन्धन से मुक्ति पानेवाले के समान, नाव के विना ही महासागर से पार पानेवाले के समान, भीषण अन्धकार से (निकलकर) प्रकाश पानेवाले के समान, ॥६८॥

रोगादिवारोग्यमसह्यरूपादृणादिवानृण्यमनन्तसंख्यात् ।
द्विषत्सकाशादिव चापयानं दुर्भिक्षयोगाच्च यथा सुभिक्षं ॥६९॥

असह्य रोग से आरोग्य पानेवाले के समान, अनन्त-राशि ऋण से उऋण होनेवाले के समान, शत्रु के समीप से भाग निकलनेवाले के समान और अकाल से सुकाल में आनेवाले के समान, ॥६९॥

तद्वत्परां शान्तिमुपागतोऽहं यस्यानुभावेन विनायकस्य ।
करोमि भूयः पुनरुक्तमस्मै नमो नमोऽर्हाय तथागताय ॥७०॥

मैं जिन विनायक की कृपा से परम शांति को प्राप्त हुआ हूँ उन पूज्य तथागत को बार बार प्रणाम करता हूँ । ॥७०॥

येनाहं गिरिमुपनीय रुक्मशृङ्गं
स्वर्गं च प्लवगवधूनिदर्शनेन ।
कामात्मा त्रिदिवचरीभिरङ्गनाभि-
र्निष्कृष्टो युवतिमये कलौ निमग्नः ॥७१॥

जिन्होंने मुझ कामासक्त तथा युवतिमय पाप में डूबे हुए को स्वर्ण-शिखर पर्वत पर और स्वर्ग में ले जाकर शाखामृगी के दृष्टान्त द्वारा तथा दिव्याङ्गनाओं (अप्सराओं) के द्वारा बाहर निकाला, ॥७१॥

तस्माच्च व्यसनपरादनर्थपङ्का-
दुत्कृष्य क्रमशिथिलः करीव पङ्कात्
शान्तेऽस्मिन्विरजसि विज्वरे विशोके
सद्धर्मे वितमसि नैष्ठिके विमुक्तः ॥७२॥

और जिन्होंने मुझे उस विपत्ति-प्रद अनर्थरूपी पङ्क से, जैसे थके हुए हाथी को कीचड़ से, बाहर निकालकर इस शांत निर्मल ताप-रहित शोक रहित तम-रहित नैष्ठिक सद्धर्म में छोड़ (रख) दिया, ॥७२॥

तं वन्दे परमनुकम्पकं महर्षि
मूर्ध्नाहं प्रकृतिगुणज्ञमाशयज्ञं ।
संबुद्धं दशबलिनं भिषक्प्रधानं
त्रातारं पुनरपि चास्मि संनतस्तं ॥७३॥

महाकाव्ये सौन्दरनन्देऽमृताधिगमो नाम सप्तदशः सर्गः ।

उन (प्राणियों के) प्रकृति गुण और आशय को जाननेवाले परम दयालु महर्षि बुद्ध, दश-बल-धारी श्रेष्ठ चिकित्सक और त्राता को शिर नवाकर प्रणाम करता हूँ। उन्हें फिर से प्रणाम करता हूँ। ॥७३॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "अमृत-प्राप्ति"

नामक सप्तदश सर्ग समाप्त।

अष्टादश सर्ग

आज्ञा-व्याकरण*

अथ द्विजो बाल इवाप्तवेदः क्षिप्रं वणिक् प्राप्त इवाप्तलाभः।
जित्वा च राजन्य इवारिसैन्यं नन्दः कृतार्थो गुरुमभ्यगच्छत् ॥१॥

तब जैसे द्विज-बालक वेदाध्ययन समाप्त करके, बनिया तुरंत लाभ उठाकर, क्षत्रिय (राजा) शत्रु-सेना को जीतकर (अपने गुरु या उपदेशक के समीप) पहुँचता है, वैसे ही नन्द कृतार्थ होकर अपने गुरु के समीप गया। ॥१॥

द्रष्टुं सुखं ज्ञानसमाप्तिकाले गुरुर्हि शिष्यस्य गुरोश्च शिष्यः।
परिश्रमस्ते सफलो मयीति यतो दिदृक्षास्य मुनौ बभूव ॥२॥

विद्या-समाप्ति के समय शिष्य के लिए गुरु का दर्शन और गुरु के लिए शिष्य का दर्शन आनन्द-दायक होता है। 'आपने मेरे लिए जो परिश्रम किया वह सफल हुआ' ऐसा सोचकर उसने मुनि का दर्शन करना चाहा। ॥२॥

यतो हि येनाधिगतो विशेषस्तस्योत्तमांसोऽर्हति कर्तुमिज्यां।
आर्यः सरागोऽपि कृतज्ञभावात्प्रक्षीणमानः किमु वीतरागः ॥३॥

क्योंकि जिसने जिससे विशेष (लाभ, ज्ञान) प्राप्त किया है उसको उसकी उत्तम पूजा करनी चाहिए। राग-युक्त होने पर भी आर्य पुरुष

---

*आज्ञा = अर्हत्त्व, परम ज्ञान, उत्तम ज्ञान; व्याकरण = कथन, उपदेश, व्याख्या।

३—पा० 'तस्योत्तमाङ्गे'।

कृतज्ञ भाव से (अपने गुरु की) पूजा करता है, फिर मान-रहित और राग-रहित व्यक्ति का क्या कहना ? ॥३॥

यस्यार्थकामप्रभवा हि भक्तिस्ततोऽस्य सा तिष्ठति रूढमूला ।
धर्मान्वयो यस्य तु भक्तिरागस्तस्य प्रसादो हृदयावगाढः ॥४॥

जिसकी भक्ति अर्थ और काम से उत्पन्न होती है उसकी वह भक्ति बद्धमूल होकर रहती है; किंतु जिसकी भक्ति धर्म का अनुसरण करने से उत्पन्न होती है उसकी श्रद्धा हृदय में जड़ जमाती है । ॥४॥

काषायवासाः कनकावदातस्ततः स मूर्ध्ना गुरवे प्रणेमे ।
वातेरितः पल्लवताम्रराग: पुष्पोज्ज्वलश्रीरिव कर्णिकारः ॥५॥

तब उस सुनहले रंगवाले काषाय वस्त्रधारी ने मस्तक झुकाकर गुरु को प्रणाम किया, मानो अपने पल्लवों से ताम्रवर्ण तथा अपने फूलों से उज्ज्वल कर्णिकार वृक्ष वायु-प्रकम्पित होकर नीचे झुक रहा हो । ॥५॥

अथात्मनः शिष्यगुणस्य चैव महामुनेः शास्तृगुणस्य चैव ।
संदर्शनार्थं स न मानहेतोः स्वां कार्यसिद्धिं कथयांबभूव ॥६॥

तब, अभिमान से नहीं, किंतु अपनी उत्तम शिष्यता तथा महामुनि के उपदेश की उत्कृष्टता दिखलाने के लिए, उसने अपनी कार्य-सिद्धि कह सुनाईः—॥६॥

यो दृष्टिशल्यो हृदयावगाढः प्रभो भृशं मामतुदत्सुतीक्ष्णः ।
त्वद्वाक्यसंदंशमुखेन मे स समुद्धृतः शल्यहृतेव शल्यः ॥७॥

"जो कुदृष्टिरूपी तीक्ष्ण शल्य, हे प्रभो मेरे हृदय में गड़ा हुआ था और मुझे अत्यन्त पीड़ित कर रहा था वह आपके वाक्यरूपी

संदंश (संड़सी) द्वारा बाहर खींच लिया गया, जैसे शल्य निकालनेवाले (यंत्र या वैद्य) के द्वारा शल्य बाहर निकाला जाता है। ॥७॥

कथंकथाभावगतोऽस्मि येन छिन्नः स निःसंशय संशयो मे।
त्वच्छासनात्सत्पथमागतोऽस्मि सुदेशिकस्येव पथि प्रनष्टः ॥८॥

हे संशय-रहित, वह संशय, जिसके कारण मैं संदेह-सूचक प्रश्न किया करता था, नष्ट हो गया। आपके उपदेश से मैं सन्मार्ग पर आ गया हूँ, जैसे कि रास्ता भूला हुआ आदमी पथ-प्रदर्शक के उपदेश से ठीक रास्ते पर आ जाता है। ॥८॥

यत्पीतमास्वादवशेन्द्रियेण दर्पेण कन्दर्पविषं मयासीत्।
तन्मे हतं त्वद्वचनागदेन विषं विनाशीव महागदेन ॥९॥

आस्वाद के वशीभूत होकर मैंने मद से जिस कामरूपी विष को पिया था वह आपके वचनरूपी ओषधि के द्वारा नष्ट हो गया, जैसे कि प्राण-विनाशक विष महौषधि (के सेवन) से नष्ट हो जाता है। ॥९॥

क्षयं गतं जन्म निरस्तजन्मन्सद्धर्मचर्यामुषितोऽस्मि सम्यक्।
कृत्स्नं कृतं मे कृतकार्य कार्यं लोकेषु भूतोऽस्मि न लोकधर्मा ॥१०॥

हे जन्म-मुक्त, मैं जन्म से मुक्त हो गया और अच्छी तरह सद्धर्म का आचरण कर रहा हूँ। हे कृतकार्य, मैंने सारा कार्य कर लिया। यद्यपि मैं लोक (संसार) में हूँ, तो भी लोक-धर्म से लिप्त नहीं हूँ। ॥१०॥

मैत्रीस्तनीं व्यञ्जनचारुसास्नां सद्धर्मदुग्धां प्रतिभानशृङ्गाम्।
तवास्मि गां साधु निपीय तृप्तस्तृषेव गामुत्तम वत्सवर्णः ॥११॥

८—पा० 'कथंकथी०'।

१०—पा० 'लोके प्रसूतो', 'लोके प्रभूतो'।

मैत्री जिसके स्तन हैं, स्पष्ट अभिव्यक्ति जिसका गलकम्बल (गाय-बैल के गले में लटकनेवाला चमड़ा) है, सद्धर्म जिसका दूध है और प्रतिभान (ज्ञान) जिसके सींग हैं ऐसी आपकी वाणीरूपी गाय (के दूध) को पीकर मैं तृप्त हो गया हूँ, जैसे भूख से व्याकुल बछड़ा, हे उत्तम, अपनी गाय को पीकर तृप्त हो जाता है। ॥११॥

यत्पश्यतश्चाधिगमो ममायं तन्मे समासेन मुने निबोध ।
सर्वज्ञ कामं विदितं तवैतत्स्वं तूपचारं प्रविवक्षुरस्मि ॥१२॥

मेरे में जिस दृष्टि के होने से मैंने यह (अर्हत्त्व) प्राप्त किया है उसको, हे मुने, संक्षेप से सुनिए। हे सर्वज्ञ, आपको तो यह विदित ही है, तो भी मैं अपना उपचार कहना चाहता हूँ। ॥१२॥

अन्येऽपि सन्तो विमुमुक्षवो हि श्रुत्वा विमोक्षाय नयं परस्य ।
मुक्तस्य रोगादिव रोगवन्तस्तेनैव मार्गेण सुखं घटन्ते ॥१३॥

क्योंकि मुक्ति चाहनेवाले दूसरे लोग भी दूसरे के (द्वारा अनुसृत) मोक्ष-मार्ग को सुनकर उसी मार्ग से सुख-पूर्वक प्रयत्न करते हैं, जैसे कि रोगी मनुष्य रोग से मुक्त हुए के मुक्ति-उपाय को सुन कर उसी उपाय से (स्वस्थ होने के लिए) यत्न करते हैं। ॥१३॥

उर्व्यादिकान् जन्मनि वेद्मि धातून्नात्मानमुर्व्यादिषु तेषु किंचित् ।
यस्मादतस्तेषु न मेऽस्ति सक्तिर्बहिश्च कायेन समा मतिर्मे ॥१४॥

मैं जानता हूँ कि जन्म (के मूल) में पृथ्वी आदि धातु विद्यमान हैं और उन पृथ्वी आदि धातुओं में कोई आत्मा नहीं है, इसलिए उनमें मेरी आसक्ति नहीं है। शरीर को और शरीर के बाहरी पदार्थ को मैं समान समझता हूँ। ॥१४॥

स्कन्धांश्च रूपप्रभृतीन्दशार्धान्पश्यामि यस्माच्चपलानसारान् ।
अनात्मकांश्चैव वधात्मकांश्च तस्माद्विमुक्तोऽस्म्यशिवेभ्य एभ्यः ॥१५॥

क्योंकि मैं रूप आदि पञ्च-स्कन्धों को चञ्चल असार अनात्म और विनाशक (अकुशल) देखता हूँ, इसलिए मैं इन अमङ्गल वस्तुओं से अलग हो गया हूँ। ॥१५॥

यस्माच्च पश्याम्युदयं व्ययं च सर्वास्ववस्थास्वहमिन्द्रियाणां ।
तस्मादनित्येषु निरात्मकेषु दुःखेषु मे तेष्वपि नास्ति संगः ॥१६॥

मैं देखता हूँ कि सब अवस्थाओं में इन्द्रियों का उदय और व्यय होता है, इसलिए इन अनित्य अनात्म और दुःखरूप इन्द्रियों में मेरी आसक्ति नहीं है। ॥१६॥

यतश्च लोकं समजन्मनिष्ठं पश्यामि निःसारमसच्च सर्वं ।
अतो धिया मे मनसा विबद्धमस्मीति मे नेञ्जितमस्ति येन ॥१७॥

क्योंकि संसार को जन्मशील और मरणशील तथा सब पदार्थों को असार और असत् देखता हूँ..........जिससे कि मेरे में अहंभाव (मैं हूँ) यह विकार नहीं रहा। ॥१७॥

चतुर्विधे नैकविधप्रसंगे यतोऽहमाहारविधावसक्तः ।
अमूर्छितश्चाग्रथितश्च तत्र त्रिभ्यो विमुक्तोऽस्मि ततो भवेभ्यः १८

१७—द्वितीय पाद का पाठ और इसलिए अर्थ भी अनिश्चित है।

१८—चार प्रकार के आहार :—(१) कवलीकार (स्थूल और सूक्ष्म) (२) स्पर्श (इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के संयोग से उत्पन्न होने-वाला) (३) मनस्संचेतना (मानसिक कर्म, विचार) (४) विज्ञान (विज्ञान-स्कन्ध)—अभिधर्म कोश ३ । ३८ ।
तीन भव—रूप, अरूप, और काम ।

अनेक प्रकार की आसक्तियों सहित चार प्रकार के आहार में मैं आसक्त, मूढ़ (बेसुध) या बँधा हुआ नहीं हूँ, इसलिए मैं तीन भवों से मुक्त हूँ। ॥१८॥

अनिश्रितश्चाप्रतिबद्धचित्तो दृष्टश्रुतादौ व्यवहारधर्मे।
यस्मात्समात्मानुगतश्च तत्र तस्माद्विसंयोगगतोऽस्मि मुक्तः ॥१९॥

देखने सुनने आदि के व्यावहारिक धर्म (क्रिया) में मैं आश्रित या आसक्त-चित्त नहीं हूँ, उसमें मेरा चित्त समभाव को प्राप्त हो गया है, इसलिए मैं उससे अलग और मुक्त हो गया हूँ।" ॥१९॥

इत्येवमुक्त्वा गुरुबाहुमान्यात्सर्वेण कायेन स गां निपन्नः।
प्रवेरितो लोहितचन्दनाक्तो हैमो महास्तम्भ इवावभासे ॥२०॥

इतना कहकर गुरु के प्रति सम्मान भाव होने के कारण उसने सम्पूर्ण शरीर से पृथ्वी का स्पर्श किया, जैसे लाल चन्दन से लिप्त सुवर्ण-निर्मित महास्तम्भ पृथ्वी पर झुक गया हो। ॥२०॥

ततः प्रमादात्प्रसृतस्य पूर्वं श्रुत्वा धृतिं व्याकरणं च तस्य।
धर्मान्वयं चानुगतं प्रसादं मेघस्वरस्तं मुनिराबभाषे ॥२१॥

तब जो पहले प्रमाद-वश (सन्मार्ग से) भटका था उसका धैर्य, धर्म-व्याख्या, धर्माचरण और श्रद्धा देखकर, मुनि ने मेघ के समान (गम्भीर) वाणी में कहाः— ॥२१॥

उत्तिष्ठ धर्मे स्थित शिष्यजुष्टे किं पादयोर्मे पतितोऽसि मूर्ध्ना।
अभ्यर्चनं मे न तथा प्रणामो धर्मे यथैषा प्रतिपत्तिरेव ॥२२॥

"हे शिष्य-धर्म में रहनेवाले, उठो। क्यों मेरे चरणों पर मस्तक टेककर पड़े हुए हो? मुझे प्रणाम करना मेरा वैसा सम्मान नहीं है जैसा कि यह धर्माचरण। ॥२२॥

अद्यासि सुप्रव्रजितो जितात्मन्नैश्वर्यमप्यात्मनि येन लब्धं ।
जितात्मनः प्रव्रजनं हि साधु चलात्मनो न त्वजितेन्द्रियस्य ॥२३॥

हे जितात्मन् , आज तुम्हारा प्रव्रजित होना (संन्यास ग्रहण करना) सफल हुआ, जो तुमने अपने ऊपर ईश्वरत्व (अधिकार) प्राप्त किया । जिसने अपने को जीत लिया है उसी का प्रव्रजित होना उचित है, न कि चञ्चलात्मा अजितेन्द्रिय व्यक्ति का । ॥२३॥

अद्यासि शौचेन परेण युक्तो वाक्कायचेतांसि शुचीनि यत्ते ।
अतः पुनश्चाप्रयतामसौम्यां यत्सौम्य नो वेक्ष्यसि गर्भशय्यां ॥२४॥

आज तुम आत्यन्तिक शुद्धि से युक्त हो, क्योंकि तुम्हारा शरीर वचन और चित्त शुद्ध है और क्योंकि, हे सौम्य, अब फिर अपवित्र और असौम्य गर्भ-शय्या में प्रवेश नहीं करोगे । ॥२४॥

अद्यार्थवत्ते श्रुतवच्छ्रुतं तच्छ्रुतानुरूपं प्रतिपद्य धर्मं ।
कृतश्रुतो विप्रतिपद्यमानो निन्द्यो हि निर्वीर्य इवात्तशस्त्रः ॥२५॥

आज तुम्हारा वह शास्त्र-ज्ञान सार्थक है, तुमने शास्त्र के अनुसार धर्माचरण किया; क्योंकि शास्त्र का अभ्यास करके उसके अनुसार आचरण नहीं करनेवाला निन्दा का पात्र होता है, जैसे शस्त्र ग्रहण करके उद्योग (युद्ध) नहीं करनेवाले की निन्दा होती है । ॥२५॥

अहो धृतिस्तेऽविषयात्मकस्य
यत्त्वं मतिं मोक्षविधावकार्षीः ।
यास्यामि निष्ठामिति बालिशो हि
जन्मक्षयात्त्रासमिहाभ्युपैति ॥२६॥

अहो तुम्हारा धैर्य ! विषयों से विरक्त होकर तुमने मोक्ष प्राप्ति के

उपाय में अपना मन लगाया। 'मेरा अन्त हो जायगा' ऐसा सोचकर मूर्ख मनुष्य जन्म-विनाश से इस संसार में भयभीत होता है। ॥२६॥

दिष्ट्या दुरापः क्षणसंनिपातो नायं कृतो मोहवशेन मोघः।
उदेति दुःखेन गतो ह्यधस्तात्कूर्मो युगच्छिद्र इवार्णवस्थः ॥२७॥

(कुछ ही क्षणों का) यह (मनुष्य-जीवन) दुर्लभ है, सौभाग्य से तुमने मोहवश इसे व्यर्थ नहीं बिताया। नीचे (की योनि में) गया हुआ मनुष्य कठिनाई से ऊपर आता है, जैसे कि समुद्र में रहनेवाला कूर्म कठिनाई से जुए के छेद में आता है। ॥२७॥

निर्जित्य मारं युधि दुर्निवारमद्यासि लोके रणशीर्षशूरः।
शूरोऽप्यशूरः स हि वेदितव्यो दोषैरमित्रैरिव हन्यते यः ॥२८॥

युद्ध में दुर्जय मार को जीतकर आज तुम संसार में संग्राम के अग्रभाग में रहनेवाले वीर हो; क्योंकि उस बीर को भी कायर ही समझना चाहिए, जो कि दोषों के द्वारा ऐसे मारा जाता है जैसे कि शत्रुओं के द्वारा। ॥२८॥

निर्वाप्य रागाग्निमुदीर्णमद्य दिष्ट्या सुखं स्वप्स्यसि वीतदाहः।
दुःखं हि शेते शयनेऽप्युदारे क्लेशाग्निना चेतसि दह्यमानः ॥२९॥

सौभाग्य से आज तुमने प्रदीप्त रागाग्नि को शान्त किया, अब तुम दाह-रहित होकर सुखपूर्वक सोओगे; क्योंकि जिसका चित्त क्लेशाग्नि से जलता रहता है, वह उत्तम शय्या पर भी कष्टपूर्वक ही सोता है। ॥२९॥

अभ्युच्छ्रितो द्रव्यमदेन पूर्वमद्यासि तृष्णोपरमात्समृद्धः।
यावत्सतर्षः पुरुषो हि लोके तावत्समृद्धोऽपि सदा दरिद्रः ॥३०॥

पूर्व में तुम द्रव्य के मद से मत्त थे और आज तृष्णा के नष्ट हो जाने से समृद्धिशाली हो; क्योंकि संसार में जब तक मनुष्य तृष्णा से युक्त रहता है तबतक समृद्धिशाली होने पर भी वह दरिद्र ही रहता है। ॥३०॥

अद्यापदेष्टुं तव युक्तरूपं शुद्धोदनो मे नृपतिः पितेति।
भ्रष्टस्य धर्मात्पितृभिर्निपातादश्लाघनीयो हि कुलापदेशः ॥३१॥

आज तुम्हारे लिए यह कहना उचित है कि राजा शुद्धोदन मेरे पिता हैं; क्योंकि जो अपने पूर्वजों के द्वारा पालित धर्म से च्युत हो गया है उसके लिए अपने कुलकी घोषणा करना प्रशंसनीय नहीं है। ॥३१॥

दिष्ट्यासि शान्तिं परमामुपेतो निस्तीर्णकान्तार इवाप्तसारः।
सर्वो हि संसारगतो भयार्तो यथैव कान्तारगतस्तथैव ॥३२॥

सौभाग्य से तुमने परम शान्ति प्राप्त कर ली है, जैसे मरुभूमि (या बीहड़ वन) को पार करके सम्पत्ति प्राप्त करनेवाला मनुष्य शान्ति लाभ करता है; क्योंकि संसार (- चक्र) में पड़े हुए सभी लोग विपत्ति से ऐसे पीड़ित रहते हैं जैसे कि कान्तार में गये हुए लोग। ॥३२॥

आरण्यकं भैक्षचरं विनीतं द्रक्ष्यामि नन्दं निभृतं कदेति।
आसीत्पुरस्तात्त्वयि मे दिदृक्षा तथासि दिष्ट्या मम दर्शनीयः॥३३॥

मैं नन्द को कब अरण्य-वासी भिक्षाचारी विनीत और एकान्त-सेवी देखूँगा, पूर्व में मेरी ऐसी ही इच्छा थी, सो सौभाग्य से मैं आज तुम्हें उसी रूप में देख रहा हूँ। ॥३३॥

भवत्यरूपोऽपि हि दर्शनीयः स्वलंकृतः श्रेष्ठतमैर्गुणैः स्वैः।
दोषैः परीतो मलिनीकरैस्तु सुदर्शनीयोऽपि विरूप एव ॥३४॥

अपने श्रेष्ठ गुणों से अलंकृत होकर कुरूप मनुष्य भी दर्शनीय हो जाता है; किंतु गंदे दोषों से व्याप्त होकर रूपवान् भी कुरूप हो जाता है। ॥३४॥

अद्य प्रकृष्टा तव बुद्धिमत्ता कृत्स्नं यया ते कृतमात्मकार्यं।
श्रुतोन्नतस्यापि हि नास्ति बुद्धिर्नोत्पद्यते श्रेयसि यस्य बुद्धिः ॥३५॥

आज तुम्हारी बुद्धि, उत्कृष्ट है, जिसके द्वारा तुमने अपना सारा कार्य कर लिया। विद्वान् होने पर भी यदि किसी को श्रेयस्कर बुद्धि न हो तो उसको बुद्धि नहीं है। ॥३५॥

उन्मीलितस्यापि जनस्य मध्ये निमीलितस्यापि तथैव चक्षुः।
प्रज्ञामयं यस्य हि नास्ति चक्षुश्चक्षुर्न तस्यास्ति सचक्षुषोऽपि ॥३६॥

उसी प्रकार खुली आँखोंवाले लोगों के बीच बन्द आँखोंवाले को भी दृष्टि हो सकती है; क्योंकि जिसको प्रज्ञा-चक्षु नहीं है उसको चक्षु होने पर भी (वास्तव में) चक्षु नहीं है। ॥३६॥

दुःखप्रतीकारनिमित्तमार्तः कृष्यादिभिः खेदमुपैति लोकः।
अजस्रमागच्छति तच्च भूयो ज्ञानेन यस्याद्य कृतस्त्वयान्तः ॥३७॥

दुःख-प्रतीकार के लिए दुःखी जगत् कृषि आदि कार्य करके श्रान्त होता है और फिर भी उसको वह दुःख सदा होता ही रहता है, जिसका कि तुमने आज ज्ञान द्वारा अन्त कर दिया। ॥३७॥

दुःखं न मे स्यात्सुखमेव मे स्यादिति प्रवृत्तः सततं हि लोकः।
न वेत्ति तच्चैव तथा यथा स्यात्प्राप्तं त्वयाद्यासुलभं यथावत् ॥३८॥

मुझे दुःख न हो, मुझे सुख ही हो, इसके लिए जगत् सदा प्रयत्न करता है; किंतु वह नहीं जानता है कि वह (सुख) कैसे प्राप्त

होता है. तुमने आज उस दुर्लभ (वस्तु, सुख) को तत्त्वतः प्राप्त कर लिया।"॥३८॥

इत्येवमादि स्थिरबुद्धिचित्तस्तथागतेनाभिहितो हिताय।
स्तवेषु निन्दासु च निर्व्यपेक्षः कृताञ्जलिर्वाक्यमुवाच नन्दः ॥३९॥

तथागत ने स्थिर-बुद्धि और स्थिर-चित्त नन्द से उसके हित के लिये इस प्रकार बहुत कुछ कहा। तब स्तुति और निन्दा में निरपेक्ष (समान) रहनेवाले नन्द ने हाथ जोड़कर यह वचन कहा— ॥३९॥

अहो विशेषेण विशेषदर्शिंस्त्वयानुकम्पा मयि दर्शितेयं।
यत्कामपङ्के भगवन्निमग्नस्त्रातोऽस्मि संसारभयादकामः ॥४०॥

"हे विशेष-दर्शिन्, आपने विशेष रूप से मेरे ऊपर यह अनुकम्पा दर्शाई। हे भगवन्, मैं कामरूपी कीचड़ में डूबा हुआ था, आपने भवचक्र के भय से मुझे बचा लिया, अब मैं (कामरूपी कीचड़) से मुक्त हो गया हूँ। ॥४०॥

भ्रात्रा त्वया श्रेयसि दैशिकेन पित्रा फलस्थेन तथैव मात्रा।
हतोऽभविष्यं यदि न व्यमोक्ष्यं सार्थात्परिभ्रष्ट इवाकृतार्थः ॥४१॥

फल की इच्छा रखनेवाले पिता-स्वरूप तथा माता-स्वरूप, श्रेय के उपदेशक, मेरे (बड़े) भाई आपने यदि अर्थ (लक्ष्य) को प्राप्त किये बिना ही समूह से भटके हुए (यात्री) के समान मुझे न बचा लिया होता तो मैं नष्ट हो गया होता। ॥४१॥

शान्तस्य तुष्टस्य सुखो विवेको विज्ञाततत्त्वस्य परीक्षकस्य।
प्रहीणमानस्य च निर्मदस्य सुखं विरागत्वमसक्तबुद्धेः ॥४२॥

शान्त संतुष्ट तत्त्वज्ञ और दार्शनिक को आसानी से विवेक होता है

और मान-रहित मद-रहित तथा अनासक्त-बुद्धि को आसानी से वैराग्य होता है। ।।४२।।

अथो हि तत्त्वं परिगम्य सम्यङ्निर्धूय दोषानधिगम्य शान्तिं ।
स्वं नाश्रमं संप्रति चिन्तयामि न तं जनं नाप्सरसो न देवान् ।।४३

तत्त्व को ठीक ठीक जानकर, दोषों को हटाकर और शान्ति को प्राप्त कर अब मुझे अपने (गृहस्थ-) आश्रम, उस सुन्दरी, अप्सराओं या देवताओं की चिन्ता न रही। ।।४३।।

इदं हि भुक्त्वा शुचि शामिकं सुखं न मे मनः कांक्षति कामजं सुखं
महार्हमप्यन्नमदैवताहृतं दिवौकसो भुक्तवतः सुधामिव ।।४४।।

इस पवित्र शान्ति-सुख को भोगकर अब मेरा मन काम-ज सुख की अभिलाषा नहीं करता है, जैसे अमृत खा करके देवता का चित्त दूसरे (देवेतर) प्राणियों के द्वारा खाये जानेवाले अन्न की, चाहे कितना ही कीमती क्यों न हो, इच्छा नहीं करता। ।।४४।।

अहोऽन्धविज्ञाननिमीलितं जगत्पटान्तरे पश्यति नोत्तमं सुखं।
सुधीरमध्यात्मसुखं व्यपास्य हि श्रमं तथा कामसुखार्थमृच्छति ।।

अहो! अज्ञानान्धकार से मुँदी हुई आँखों वाला जगत् पटाच्छादित उत्तम सुख को नहीं देख रहा है; क्योंकि स्थायी अध्यात्म-सुख को छोड़कर वह काम-ज सुख के लिए परिश्रम करता है। ।।४५।।

यथा हि रत्नाकरमेत्य दुर्मतिर्विहाय रत्नान्यसतो मणीन्हरेत्।
अपास्य संबोधिसुखं तथोत्तमं श्रमं व्रजेत्कामसुखोपलब्धये ।।४६।।

४३—पा० 'अहं हि'। 'न श्रमं' 'नाश्रयं'।

४५—या 'वस्त्र-परिवर्तन में (काषाय-वस्त्र ग्रहण करने में) उत्तम सुख को नहीं देख रहा है'। पा० 'स्वाधीनमध्यात्मसुखं'।

जैसे कोई दुर्बुद्धि रत्नों की खान में जाये और (उत्तम) रत्नों को छोड़कर असत् मणियों को ले आये, वैसे ही उत्तम बोधि-सुख को छोड़कर काम-सुख की प्राप्ति के लिए परिश्रम करे। ॥४६॥

अहो हि सत्त्वेष्वतिमैत्रचेतसस्तथागतस्यानुजिघृक्षुता परा।
अपास्य यद्ध्यानसुखं मुने परं परस्य दुःखोपरमाय खिद्यसे ॥४७॥

अहो! प्राणियों के प्रति तथागत का चित्त अत्यन्त मैत्रीपूर्ण है और उनके ऊपर तथागत अत्यन्त अनुग्रह करना चाहते हैं; इसीलिए तो, हे मुने, उत्तम ध्यान-सुख को छोड़कर आप दूसरों का दुःख दूर करने के लिए श्रम कर रहे हैं। ॥४७॥

मया नु शक्यं प्रतिकर्तुमद्य किं गुरौ हितैषिण्यनुकम्पके त्वयि।
समुद्धृतो येन भवार्णवादहं महार्णवाच्चूर्णितनौरिवोर्मिभिः ॥४८॥

क्या मैं हितैषी और कारुणिक आप गुरुदेव का कुछ प्रति-उपकार कर सकता हूँ? आपने मुझे भव-सागर से ऐसे निकाला जैसे जिसकी नाव तरंगों से चूर हो रही हो उसको महासागर से निकाला जाय।" ॥४८॥

ततो मुनिस्तस्य निशम्य हेतुमत्प्रहीणसर्वास्रवसूचकं वचः।
इदं बभाषे वदतामनुत्तमो यदर्हति श्रीघन एव भाषितुं ॥४९॥

तब उसके उस हेतुपूर्ण (युक्तियुक्त) वचन को, जिससे कि उसके सब आस्रवों (चित्त-मलों) का नष्ट होना सूचित हो रहा था, सुनकर वक्ता-श्रेष्ठ मुनि ने यह वचन कहा जो कि श्रीघन (बुद्ध) ही कह सकते हैं—॥४९॥

इदं कृतार्थः परमार्थवित्कृती त्वमेव धीमन्नभिधातुमर्हसि।
अतीत्य कान्तारमवाप्तसाधनः सुदैशिकस्येव कृतं महावणिक् ॥५०॥

"हे धीमन्, आप कृतार्थ, परमार्थ को जाननेवाले तथा पुण्यात्मा ही ऐसा कह सकते हैं, जैसे मरुभूमि को पार करके धन प्राप्त करनेवाला महावणिक् ही अपने पथ-प्रदर्शक के उपकार का बखान कर सकता है। ॥५०॥

अवैति बुद्धं नरदम्यसारथिं कृती यथार्हन्नुपशान्तमानसः।
न दृष्टसत्योऽपि तथावबुध्यते पृथग्जनः किंवत बुद्धिमानपि ॥५१॥

शान्त-चित्त पुण्यात्मा जीवन्मुक्त पुरुष मनुष्यरूपी घोड़ों के सारथि-स्वरूप बुद्ध को जितना समझता है उतना तो तत्त्वदर्शी भी नहीं समझ सकता है, फिर सांसारिक मनुष्य बुद्धिमान् होकर भी कहाँ तक समझ सकेगा? ॥५१॥

रजस्तमोभ्यां परिमुक्तचेतसस्तवैव चेयं सदृशी कृतज्ञता।
रजःप्रकर्षेण जगत्यवस्थिते कृतज्ञभावो हि कृतज्ञ दुर्लभः ॥५२॥

यह ऐसी कृतज्ञता तो तुम्हारे ही अनुरूप है, तुम्हारा चित्त रजस् और तमस् से मुक्त जो है; क्योंकि हे कृतज्ञ, रजस् की अधिकता से व्याप्त जगत् में कृतज्ञता का भाव दुर्लभ है। ॥५२॥

सधर्म धर्मान्वयतो यतश्च ते
मयि प्रसादोऽधिगमे च कौशलं।
अतोऽस्ति भूयस्त्वयि मे विवक्षितं
नतो हि भक्तश्च नियोगमर्हसि ॥५३॥

हे समानधर्मा, धर्मान्वय के कारण मुझमें तुम्हारी श्रद्धा है और (लक्ष्य की) प्राप्ति में तुमने कौशल दिखलाया है; अतः मैं पुनः तुम्हें कुछ कहना चाहता हूँ, क्योंकि विनम्र भक्त तुम आदेश के पात्र हो। ॥५३॥

अवाप्तकार्योऽसि परां गतिं गतो न तेऽस्ति किंचित्करणीयमण्वपि
अतःपरं सौम्य चरानुकम्पया विमोक्षयन् कृच्छ्रगतान्परानपि ॥५४॥

तुमने अपना कार्य पूरा कर लिया है, तुम परम गति प्राप्त कर चुके हो, तुम्हारे लिए अब अणुमात्र करने को भी शेष नहीं है; अब से, हे सौम्य, दूसरों को भी मुक्त करते हुए अनुकम्पापूर्वक विचरण करो। ॥५४॥

इहार्थमेवारभते नरोऽधमो विमध्यमस्तूभयलौकिकीं क्रियां।
क्रियाममुत्रैव फलाय मध्यमो विशिष्टधर्मा पुनरप्रवृत्तये ॥५५॥

नीच मनुष्य इहलोक के लिए ही कार्यारम्भ करता है, विमध्यम (श्रेणीका) मनुष्य (इहलोक और परलोक) दोनों लोकों के लिए, मध्यम (श्रेणी का) मनुष्य परलोक में फल पानेके लिए ही और विशिष्ट धर्मवाला (उत्तम श्रेणीका) मनुष्य पुनर्जन्म से मुक्तिके लिए कार्य करता है। ॥५५॥

इहोत्तमेभ्योऽपि मतः स तूत्तमो य उत्तमं धर्ममवाप्य नैष्ठिकं।
अचिन्तयित्वात्मगतं परिश्रमं शमं परेभ्योऽप्युपदेष्टुमिच्छति ॥५६

इस संसार में वही मनुष्य उत्तम से भी उत्तम माना गया है जो कि उत्तम नैष्ठिक धर्म पाकर, अपने परिश्रम की चिन्ता न करता हुआ दूसरों को भी शम-धर्म (शान्ति) का उपदेश देना चाहता है। ॥५६॥

विहाय तस्मादिह कार्यमात्मनः कुरु स्थिरात्मन्परकार्यमप्यथो।
भ्रमत्सु सत्त्वेषु तमोवृतात्मसु श्रुतप्रदीपो निशि धार्यतामयं ॥५७॥

इसलिए इस संसार में, हे स्थिरात्मन्, अपना कार्य छोड़कर दूसरों का भी कार्य करो। रात्रि-काल में भटकते हुए तमोवृत जीवों के बीच इस ज्ञान-प्रदीप (धर्म-प्रदीप) को धारण करो। ॥५७॥

ब्रवीतु तावत्पुरि विस्मितो जनस्त्वयि स्थिते कुर्वति धर्मदेशनाः।
अहोबताश्चर्यमिदं विमुक्तये करोति रागी यदयं कथामिति ॥५८॥

जब तुम नगर में धर्मोपदेश करते रहोगे तब लोग विस्मित होकर यों कहें—'अहो ! यह आश्चर्य ! यह नन्द जो पहले कामासक्त था अब मुक्ति की बात बतला रहा है'। ॥५८॥

ध्रुवं हि संश्रुत्य तव स्थिरं मनो निवृत्तनानाविषयैर्मनोरथैः ।
वधूर्गृहे सापि तवानुकुर्वती करिष्यते स्त्रीषु विरागिणीः कथाः ॥५९

नाना विषयों की इच्छाओं से मुक्त होकर तुम्हारा मन स्थिर हो गया है, यह सुनकर तुम्हारी वह पत्नी भी निश्चय ही घर में तुम्हारा ही अनुकरण करती हुई स्त्रियों के बीच वैराग्य की कथा कहेगी। ॥५९॥

त्वयि परमधृतौ निविष्टतत्त्वे भवनगता न हि रंस्यते ध्रुवं सा ।
मनसि शमदमात्मके विविक्ते मतिरिव कामसुखैः परीक्षकस्य ॥६०॥

क्योंकि तुम परम धैर्यवान् तत्त्व में प्रवेश कर चुके हो, इसलिए निश्चय ही वह घर में आनन्द न पायेगी; जैसे कि चित्त के शान्त दान्त और विवेकशील (या एकान्त-सेवी) हो जाने पर दार्शनिक (योगी) की बुद्धि काम-सुख में रमण नहीं करती है। ॥६०॥

इत्यर्हतः परमकारुणिकस्य शास्तु-
मूर्ध्ना वचश्च चरणौ च समं गृहीत्वा ।
स्वस्थः प्रशान्तहृदयो विनिवृत्तकार्यः
पार्श्वान्मुनेः प्रतिययौ विमदः करीव ॥६१॥

तब परम कारुणिक पूज्य शास्ता के वचन और चरणों को एक साथ ही शिरोधार्य करके स्वस्थ-चित्त शान्त-हृदय और परिपूर्ण-कार्य नन्द मुनि के समीप से मद-मुक्त हाथी के समान चला गया। ॥६१॥

भिक्षार्थं समये विवेश स पुरं दृष्टीर्जनस्याक्षिपन्
लाभालाभसुखासुखादिषु समः स्वस्थेन्द्रियो निःस्पृहः ।

निर्मोक्षाय चकार तत्र च कथां काले जनायार्थिने
नैवोन्मार्गगतान्परान्परिभवन्नात्मानमुत्कर्षयन् ॥६२॥

उसने भिक्षा के लिए समय पर नगरमें प्रवेश किया, वह पुरवासियों की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा था, वह हानि-लाभ दुख-सुख आदि (द्वन्द्वों) में समान और इच्छा-रहित था। वहाँ उसने प्रार्थी लोगों को समय पर मोक्ष की कथा कही; किंतु उसने विपरीत-मार्ग पर चलने वाले दूसरे लोगो की न निन्दा की और न अपनी श्रेष्ठता ही प्रकट की। ॥६२॥

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥६३॥

मोक्ष-धर्म की व्याख्या से परिपूर्ण यह कृति शान्ति प्रदान करने के लिए है, न कि आनन्द देने के लिए; अन्यमनस्क श्रोताओं को आकृष्ट करने के लिए यह (कृति) काव्य-शैली में रची गई है। इसमें मोक्ष-धर्म के अतिरिक्त मेरे द्वारा जो कुछ कहा गया है सो इसे काव्य-धर्म के अनुसार सरस बनाने के लिए ही, जैसे कि तिक्त (कटु) ओषधि को पीने लायक बनाने के लिए उसमें मधु मिलाया जाता है। ॥६३॥

प्रायेणालोक्य लोकं विषयरतिपरं मोक्षात्प्रतिहतं
काव्यव्याजेन तत्त्वं कथितमिह मया मोक्षः परमिति।
तद्बुद्ध्वा शामिकं यत्तदवहितमितो ग्राह्यं न ललितं
पांसुभ्यो धातुजेभ्यो नियतमुपकरं चामीकरमिति ॥६४॥

सौन्दरनन्दे महाकाव्य आज्ञाव्याकरणो नामाष्टादशः सर्गः।
आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्वघोषस्य
महाकवेर्महावादिनः कृतिरियं ॥

ससार को प्रायः विषयानन्द में लीन तथा मोक्ष से विमुख देखकर मोक्ष को ही सब से ऊपर समझते हुए मैंने इसमें तत्त्व का उपदेश दिया है। ऐसा समझकर सावधानीपूर्वक इसमें से शान्ति-दायक वस्तु को ही, न कि आनन्द-दायक (ललित) वस्तु को, ग्रहण करना चाहिए; जैसे कि लोग धातु के कणों में से उपयोगी सुवर्ण (-कणों) को ही ग्रहण करते हैं। ॥६४॥

सौन्दरनन्द महाकाव्य में "आज्ञा-व्याकरण"
नामक अष्टादश सर्ग समाप्त।

आर्य सुवर्णाक्षी-पुत्र साकेत-निवासी महाकवि महावाग्मी
भिक्षु आचार्य भदन्त अश्वघोष की यह कृति।

नामानुक्रमणी

---

*सूनापरान्त जनपदमें पूर्णका जाना, देखिये 'पुण्णोवाद सुत्तन्त', मज्झिम निकाय।

शुद्धि-पत्र

जो शुद्धियाँ *इस चिह्नसे युक्त हैं वे विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

१।२ घ—सिद्धिं
१।१० ग—०कीर्णो०
१।२२ अनु०—वे
१।३७ क—प्रकृतिं
१।४० घ—०रते
१।४५ क—०योक्तृणां
*१।४८ ग—यद्‌बभासे
१।५१ क—यस्मा०
१।५७ ग—यस्मात्ते
१।५९ ख—०सार्येण
१।६१ ख—भ्रातृणां
२।६ ख—पद्धतिं
२।९ ग—राज्यं
२।९ घ—पितृन्

२।७ घ—पितु०
२।६ ग—बह्वपि
२।१२ क—परं
२।१२ ख—किंचन
२।१९ ग—०भूमिं
२।१९ ख—०किंचि०
२।३० क—०तृंश्चैव
२।३३ ख—किंचि०
२।३५ ग—ब्रह्म
२।३७ ख—धर्मं०
२।३९ क—चैव
*२।४२ क—मर्यादा
२।४३ ख—किंचन
२।४८ ख—क्षितिं

२।४८ ग—उपपत्तिं
२।५८ ख—सिंहासो
२।६५ घ—हंसः
३।२ घ—०स्थितं
३।३ ख—०मतिं
३।३६ टि०—सर्प
३।४२ अनु०—पूरु
४।१० ख—किंनरी०
*४।१५ ख—शाठ्येन
४।१५ घ—भ्रूकुटिं
*४।१७ ग—०भार्यां
४।२० क—दर्पणा
४।२८ ख—चक्षुः
४।३० क—शङ्के

४।३१ क—प्रवेशं

*४।३५ ग—मुहुर्मुहु०

४।४१ ग—काक्षेण

४।४५ ग—स्वजेय

५।१ क—०तीर्या०

५।५ ख—०क्तिं

५।११ ख—मतिं

५।१६ ग—हेतु०

५।२१ ग—०तलेन

५।२२ क—हिंस्रः

५।२३ ख—बोलं

५।२६ क—०श्चितं

५।३५ ग—स्तं

५।४४ ख—दुःखं

५।४६ ख—बुद्धि

६।४ ग—तस्थौ

६।८ ग—कुक्षिं

६।१५ ख—नागतः

६।१७ क—भक्तिं

६।१८ टि०—चित्तो

६।२२ ख—प्रियं

६।२४ क—प्रवृत्ति

६।२७ ख—ताम्रे

६।३४ ख—बभ्राम

६।३६ ख—०नुद०

६।४१ ख—मोक्षं

६।४२ क—किंचिद्

६।४३ ख—किं

६।४७ क—निवृत्तिं

६।४७ ख—तस्याश्रु०

६।४७ ख—रंस्यते

७।१४ ख—वा

*७।१५ ग—विना

७।१७ क—भिक्षु०

७।१७ ग—शान्ति

७।२१ क—घोषं

७।२२ ग—शान्ता०

७।२५ ख—किंवत

७।२९ ख—योनिं

७।३७ ख—०हृते०

८।२ क—किमिदं

८।१२ ख—किंनर०

८।१२ अनु—राज्य

८।२० ग—धृतिं

८।२१ ख—पुनरस्तु०

८।२९ ख—बन्धनं

८।३७ ख—मतिं

८।४६ ग—०मर्हति

८।४८ क—०र्वसनै०

८।४९ ग—सुरभिं

८।५२ क—०मशुचिं